वेद के सभी शब्द यौगिक हैं

प्रज्ञा देवी

वेद

के

सभी शब्द यौगिक हैं।

प्रज्ञा देवी
आचार्या—पाणिनि कन्या
महाविद्यालय वाराणसी-१०
दूरभाषाङ्कः—५२२५९

प्रकाशक :—
आर्यसमाज ब्यावर

प्रथम सं १९९१] अक्टूबर मूल्य ५)

मुद्रक—
विष्णु प्रेस
के. ४७/२४३ कतुआपुरा
वाराणसी-१
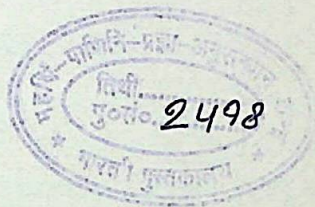
[श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री स्मारक समिति द्वारा इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय दिल्ली में आयोजित वेदगोष्ठी में १९८६ में पढ़ा गया निबन्ध]
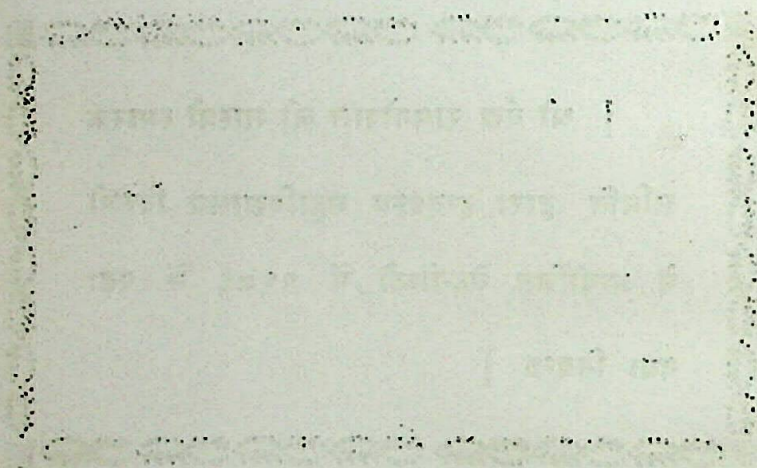
ओ३म्

दो शब्द
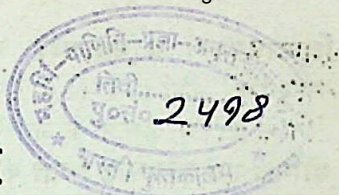
वेद के सही युक्तिसिद्ध अर्थों को जानने के लिए वेद के अध्येता का प्रथम दिन का पाठ मेरी दृष्टि में यही होगा कि "वेद में आये हुए शब्द किस प्रकार के हैं"। शब्दशास्त्रौघ महामुनि पतञ्जलि ने 'ऋलृक्' सूत्र के महाभाष्य में—"**त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः**" ऐसा कहकर (वैदिक) शब्द जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द के भेद से तीन प्रकार के हैं जो अपने-अपने प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर अर्थ के बोधक होते हैं यह बताया है। शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त का बोध हमें तत्तत् शब्द की व्युत्पत्ति (निर्वचन) प्रकृति प्रत्यय का बोध कराने वाली यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही हो सकता है। यहाँ न केवल महाभाष्यकार ने तीन प्रकार के शब्द ही बताये हैं अपितु दृढ़तापूर्वक—"**न सन्ति यदृच्छाशब्दाः**" कहकर यदृच्छा रूढि शब्दों का खण्डन भी किया है। यदृच्छा शब्द वही होते हैं जो शब्द के अर्थगत प्रवृत्तिनिमित्त की अपेक्षा न करके प्रयोक्ता के अभिप्राय मात्र को सिद्ध करते हैं। प्रत्येक शब्द के अर्थ को उस शब्द के अन्दर ही खोजना चाहिए और यह यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है। शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त वही होगा जो यौगिक प्रक्रिया द्वारा बताया जायेगा। शब्द के अन्दर विद्यमान उस अर्थ को, ऋषियों द्वारा अनुमोदित इस प्रक्रिया का परिज्ञान न करके प्रयोक्ता के विभिन्न अभिप्रायों के अनुसार बाहर से अध्यारोपित अर्थ को मान लेना ही यदृच्छा (रूढ़ि) शब्दों का स्वरूप है, जिसका खण्डन महाभाष्यकार ने "**न सन्ति यदृच्छाशब्दाः**" कहकर किया है। महाभाष्य के टीकाकार श्री नागेश भट्ट ने इन्हीं यदृच्छा शब्दों के लिये कहा है—"**एवञ्च**

शिष्टाप्रयुक्ताः यदृच्छाशब्दाः असाधुत्वेन शास्त्राविषया इति भाष्य-तात्पर्यम्" अर्थात् शिष्टों द्वारा अप्रयुक्त ये यदृच्छा शब्द असाधु होने के कारण शास्त्र के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार वेद में यौगिक एवं योगरूढ शब्दों का ही स्थान बनता है रूढि (अव्युत्पन्न) शब्दों का कदापि नहीं। इसीलिये "**उणादयो बहुलम्**" (अष्टा० ३।३।१) के महाभाष्य में —

नाम च धातुजमाह निरुक्ते,

व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ॥

तथा निरुक्त में "**तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त-समयश्च** (निरु० १।१२) ऐसा कहकर यह सिद्ध किया गया कि सभी शब्द आख्यातज हैं। यदृच्छा शब्दों के लिये आधुनिक कवि माघ ने—"**यदृच्छाशब्दवत् पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम्**" (शिशु० २।४७) कहकर बताया है कि पुरुष का जन्म यदि उसके शौर्य पराक्रमादि पुरुषत्व गुणों को सिद्ध नहीं करता तो वह पुरुष यदृच्छा शब्द के समान ही है। अर्थात् अपने प्रवृत्तिनिमित्त से भिन्न अर्थों को लेने के कारण जैसे यदृच्छा शब्द विपरीतार्थक बन जाते हैं उसी प्रकार उस पुरुष का जन्म पुरुषत्वहीन होने से व्यर्थ है।

महाभाष्यकार के अनुसार मीमांसा दर्शन में भी शब्दों की प्रवृत्ति तीन प्रकार की ही मानी गई है। जैसा कि—**द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रम् आकृतिः** ऐसा शबर स्वामी ने मीमांसा दर्शन के आकृत्यधिकरण (१।३।३०) में स्पष्ट कहा है। अर्थात् द्रव्य, गुण और क्रियावाचक तीन प्रकार के शब्द हैं। यह आकृतिपदार्थ-विषयक विचार इन्हीं तीन प्रकार के शब्दों के लिये है, रूढि शब्दों के लिये नहीं, क्योंकि मीमांसा दर्शनकार ने रूढि शब्द कोई माना ही नहीं।

प्रायः प्रश्न यह होता है कि क्या अव्यय और निपात शब्द भी अव्युत्पन्न=रूढि नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि सभी नाम आख्यातज हैं ऐसा जो निरुक्त और महाभाष्य में कहा गया है वह आख्यात को छोड़कर सभी प्रकार के उन नामों के लिये है जिनसे 'सु औ जस्' आदि विभक्ति प्रत्ययों की उत्पत्ति हो सकती है। यतः अव्यय और निपातों से भी ये विभक्ति प्रत्यय आते हैं अतः ये भी व्युत्पन्न ही माने जायेंगे, अव्युत्पन्न नहीं। नाम का अर्थ है जिनको अर्थवान् मानकर प्रातिपदिक संज्ञा हो सके क्योंकि अव्यय और निपात भी अर्थवान् हैं अतः ये भी नाम=प्रातिपदिक के अन्तर्गत आयेंगे। यही कारण है कि महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त शास्त्र में तथा उणादि कोष में भी कहीं-कहीं निपात एवं अव्ययों की व्युत्पत्ति दर्शाई है। तद्यथा—

१—अच्छ[1] अभेराप्तुमिति शाकपूणिः (निरु० ५।२८)

२—स्वाहा[2] इत्येतत् सु आहेति वा । स्वा वागाहेति वा । स्वं प्राहेति वा (निरु० ८।२०)

३—पृथक्—प्रथेः कित् सम्प्रसारणञ्च (उणादि १।१३७)

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर अन्य निपात एवं अव्यय शब्दों की व्युत्पत्तियां भी खोजी जानी चाहियें, यह सङ्केत हमें प्राप्त होता है

गीर्वाणवाणी में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द चाहे वह वेद में प्रयुक्त हो रहा हो या वेद से लेकर[3] लोक व्यवहार में प्रयुक्त हो रहा हो उस शब्द के अर्थ को जानने की पद्धति मात्र यौगिक प्रक्रिया ही होगी।

---

१. द्र० गणपाठ १।४।५७ अष्टाध्यायीस्थ सूत्र पर ॥

२. द्र० वही गणपाठ १।४।५७ पर ॥

३. सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
   वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु० १।२१ ॥

और प्रभु के दिये हुये वेदरूपी विशाल ज्ञान भण्डार की अर्थवत्ता को सुरक्षित करने की दृष्टि से इस यौगिक प्रक्रिया का महत्त्व वेद के लिये तो प्रतिशब्द में है। वेद से ही लिये गये शब्द लौकिक व्यवहार में आकर अर्थ की दृष्टि से कुछ संकुचित हो गये पर वेद में तो ऐसा कदापि सम्भव नहीं, वहाँ तो शब्द अपनी व्युत्पत्त्यनुसार विस्तृत अर्थ को ही प्रकरणानुसार[1] कहेगा।

इस युग में वेद के परम ज्ञाता महर्षि दयानन्द ने इस तत्त्व से पूर्णतया अवगत होकर ही अपने वेदभाष्य की संरचना की। वे अर्थ जाननें में परम सहायक इस यौगिक प्रक्रिया को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि अपने उणादि कोष की व्याख्या में केवल लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त योगरूढि परक ही शब्दों के अर्थ नहीं देते अपितु यौगिक प्रक्रिया द्वारा निष्पन्न विस्तृत अर्थ भी प्रायः देते हैं। तद्यथा- करोतीति कारुः कर्त्ता शिल्पी वा। वाति गच्छति जानाति वेति वायुः पवनः परमेश्वरो वा। पाति रक्षति स पायुः रक्षकः गुदेन्द्रियं वा। (उ० १।१)॥

वर्त्तते सदैव असौ वृत्रः मेघः शत्रुस्तमः पर्वतश्चक्रं वा (उ० २। १३) इत्यादि बहुत्र देखें। इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द उणादि कोष में प्रत्येक पाद की व्याख्या की समाप्ति के पश्चात्—"इत्युणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे" ऐसा लिखते हैं। महर्षि दयानन्द के इस कथन से यौगिकार्थ के साथ-२ यह भी स्पष्ट है कि लौकिक भाषा में प्रयुक्त सस्कृत शब्द वेद के शब्दों से भिन्न नहीं। मीमांसकों का—य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः, त एवैषामर्था[2] इति" यह

१. न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः (निरु० १३।१२) अर्थात् प्रसंग का नाश करके मन्त्रगत शब्दों का निर्वचन नहीं करना चाहिये प्रकरण के अनुकूल ही निर्वचन करने चाहियें॥

२. द्र० शाबर भाष्य (१।३।३०)॥

सिद्धान्त इसी व्युत्पत्तिपरक व्याख्या पर ही तो आधृत हैं जिसका महर्षि दयानन्द ने अपने उणादिकोष ग्रन्थ में पूर्णतया प्रयोग किया है।

भाषा में प्रयोग करने के लिये शब्द वद से ही लिये गये इसमें निरुक्तकार का—**शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्** (निरु० १।२) यह कथन भी प्रमाण है जिसका अर्थ है व्यवहारार्थ लोक में पदार्थों की संज्ञायें रखी जाती हैं उन शब्दों का अभिधान मनुष्यों के समान देवतासु=मन्त्रों में है अर्थात् मन्त्रगत शब्द और लोकव्यवहार के शब्द एक ही हैं, भिन्न नहीं। वस्तुतः महाभाष्यकार के—"केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानाञ्च" इस कथन से लौकिक शब्द भिन्न हैं तथा वैदिक शब्द भिन्न हैं यह भ्रान्ति होती है, जिसका निराकरण यही है कि 'वहाँ वैदिक शब्द से तात्पर्य **आनुपूर्वी विशिष्ट जो मन्त्रगत शब्द हैं उनसे है**' इसी लिये आनुपूर्वी विशिष्ट—**शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा** आदि उदाहरण वहां दिये गये हैं।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि सृष्टि का रचयिता परम प्रभु न केवल सृष्टि के पदार्थों की रचना करता है अपितु उन पदार्थों की संज्ञायें नाम तथा उनके अर्थ भी (जो स्वाभाविक रूप से उस शब्द में विद्यमान रहते हैं) प्रदान करता है। ऋग्वेद का **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्** (ऋ० १०।१९०।१) मन्त्र कहता है कि परमात्मा यथापूर्वम्—जिस प्रकार अन्य सर्गों में सूर्य चन्द्रमा आदि पदार्थों की रचना करता है तथा तत्तत् पदार्थों की सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु आदि भिन्न-भिन्न संज्ञायें देता है उसी प्रकार यथावत् इस सर्ग में भी दी हैं। इस विषय में वैशेषिक दर्शनकार ने कहा कि—**प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः** (वै० द०

२।१।१६) अर्थात् संज्ञा तथा कर्म[1] =उसके अर्थ का प्रवर्तक परमेश्वर है क्योंकि उसको सब पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। जिसको जो प्रत्यक्ष होता है वही उसका नाम भी बता सकता है। परमेश्वर को सब पदार्थ प्रत्यक्ष थे अतः उसने ही उन पदार्थों की संज्ञायें हमें बताईं। जिस प्रकार किसी समुदाय के बीच में किसी अज्ञात बालक का नाम पूछ लिया जाये तो उसके जनक माता-पिता के सिवाय उसका नाम कोई नहीं बता सकेगा, माता-पिता ने ही उस बालक का प्रारम्भ से प्रत्यक्ष किया है अतः वही नाम बता पाते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर में समझना चाहिए। दर्शनकारों ने वायु, अग्नि, पृथिवी आदि पदार्थों के लक्षण उनके गुणों को देखकर बनाये किन्तु इन पदार्थों की यही संज्ञा है इसमें केवल वेद प्रमाण है। इसीलिये वैशेषिक दर्शन में कहा—**"तस्मादागमिकम्"** (वै० द० २।१।१७) अर्थात् जिन द्रव्यों का लक्षण किया जा रहा है उनकी वायु आदि संज्ञायें वेद के—**प्राणाद्वायुरजायत** (यजु० ३१।१३) इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि पदार्थों के नाम = संज्ञायें हमें वेद से मिलीं एव उन शब्दों में अर्थाभिधान की शक्ति भी स्वाभाविक रूप से है। यहाँ मीमांसा दर्शनकार ने कहा कि—**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः** ·· (मी० द० १।१।५) शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध औत्पत्तिक = वेद के प्रादुर्भाव काल से (स्वाभाविक) है। इस प्रकार वैदिक शब्द तथा उनके अर्थों का नित्यत्व सिद्ध होता है। अब शब्दों में विद्यमान नित्य अर्थ का परिज्ञान हमें किस प्रकार हो इसके लिए ही वेदार्थ में परम उपकारक निर्वचन शास्त्र का आश्रयण परमावश्यक है। इन मूलभूत तथ्यों को जाने बिना वेद की ऊंचाई तक पहुंच पाना कठिन ही नहीं

---

१. एतावन्तः समानकर्माणः धातवः (निरु० १।२०) इत्यादि स्थलों में निरुक्त में कर्म शब्द अर्थ का वाचक है।।

असम्भव है। ऋषि मुनियों ने हमें वेदार्थ को समझने के लिये यही दिशा बताई है जिसका अनुकरण वेद के अध्येता को करना चाहिए।

इस लघु पुस्तिका में वेद के सभी शब्द यौगिक अथवा योगरूढ हैं, रूढि नहीं, इसी वैदिक सिद्धान्त का युक्ति एवं प्रमाण पुरस्सर वर्णन किया गया है। वेद में यौगिकवाद का महत्त्व बताने के लिए संक्षेप से इस पुस्तिका में १० हेतु दर्शाये गये हैं। वेद में मानवीय इतिहास नहीं, वेद की त्रिविध प्रक्रिया, वेद में अश्लीलार्थ नहीं आदि कुछ हेतु जो इस पुस्तिका में यौगिकार्थ के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये दिये गये हैं वे बहुत ही संक्षेप से रखे गये हैं ताकि लोग एक दृष्टि में इसे देख एवं समझ सकें, विस्तार के लिये तो इन एक-एक बिन्दुओं पर ही बहुत कुछ लिखा जा सकता है। सर्वसाधारण को संक्षेप से इस यौगिक प्रक्रिया के सिद्धान्त का बोध हो सके यही इस पुस्तिका का उद्देश्य है।

मैं महती कृतज्ञ हूं परमपिता परमात्मा की कि जिसने मुझे इस जीवन में यह अवसर सुलभ कराया कि जिससे वेदविद्या के सम्बन्ध में मैं कण मात्र तो ज्ञान प्राप्त कर सकी। अपनी पूज्या माता हरदेवी जी के उपकार एवं प्यारी बहिन पण्डिता मेधा जी का गुणानुवाद भी कर पाना मेरे लिये कठिन है अतः स्मरण मात्र से ही अपने प्रगाढ़ भावों का प्रकाश करते हुये अपना वक्तव्य समाप्त करती हूं।

इस पुस्तिका को **आर्य समाज ब्यावर** की ओर से प्रकाशित करने का निश्चय ब्यावर समाज के अधिकारी गणों ने किया है तदर्थ मैं उन सबकी आभारी हूं। प्रसन्नता है कि ब्यावर आर्य समाज एक जागरूक समाज है जिसमें विद्या का सम्मान एवं सेवा का भावः विशेष रूप से सदैव से रहा है।

निवेदिका—

भाद्रपद पूर्णिमा
वि० सं० २०४८

प्रज्ञा देवी
पाणिनि कन्या महाविद्यालय
तुलसीपुर, वाराणसी १०

विशिष्ट सङ्केत-सूची

ऋ० भा० भू०	ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
ऋ० वे० मा० भा०	ऋग्वेद वेङ्कट माधव भाष्य
ऋ० सा० भा०	ऋग्वेद सायण भाष्य
ऐत० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
कपि० सं०	कपिष्ठल सहिता
का० प्र०	काव्यप्रकाश
कौ०	कौषीतकि ब्राह्मण
गो० उ०	गोपथ ब्राह्मण उत्तराभाग
जै० उ०	जैमिनीय (आर्षेय) उपनिषद्
जै० ब्रा०	जैमिनीय (आर्षेय) ब्राह्मण
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
द० भा०	दयानन्द भाष्य
पा० शि०	पाणिनीय शिक्षा
बृह० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहद्०	बृहद्देवता
भ्वा० ग०	भ्वादि गण
महा० भा० शा० प०	महाभारत-शान्ति पर्व
मी० द०	मीमांसा दर्शन
मी० द० भा०	मीमांसा दर्शन भाष्य
मी० द० तन्त्र वा०	मीमांसा दर्शन तन्त्र वार्तिक
यजुर्वेद विवरण भा० भू०	यजुर्वेद विवरण भाष्य भूमिका
वै० द०	वैशेषिक दर्शन
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण

वेद के सभी शब्द यौगिक हैं।

कोई भी ज्ञान बिना शब्दमयी भाषा के प्राप्त होना असम्भव है तथा भाषा भी बिना ज्ञान के नहीं रह सकती अर्थात् भाषा का उपयोग ही ज्ञान के लिये है। इस प्रकार भाषा और ज्ञान दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है। सर्गारम्भ में वेद का ज्ञान अनन्तविद्य उस परम प्रभु द्वारा ही हमें प्राप्त होता है इसके लिये वेद की ही अनेक[१] अन्तःसाक्षियाँ प्राप्त हैं। सर्वज्ञ प्रभु का दिया हुआ होने से वेद का ज्ञान नित्य है[२] पूर्ण है, और प्रतिसर्ग में हमें इसी प्रकार प्राप्त होता है। व्यवहार में वेद से शब्द ले लेकर ही लोग जब प्रयोग करने लगे तब उन्हीं शब्दों से शब्दार्थ की सभी प्रवृत्तियां चलीं तथा अनेकों नदी, पर्वत, मनुष्य आदि सभी पदार्थों के[३] नामकरण वेद के

---

१. (क) यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
(ऋ० १०।७१।३)

(ख) बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।
(ऋ० १०।७१।१)

२. (क) तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया।
(ऋ० ८।७५।६)

(ख) अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतस्सर्वाः प्रवृत्तयः।
(महा० भा० शा० प० २३२।२४)

३. सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। (मनु० १।२१)

शब्दों को लेकर ही हुए। इस सम्बन्ध में वेद ने स्वयं कहा है कि उस परमात्मा ने भूमि आदि की उत्पत्ति के साथ-साथ लोक में[1] नाम भी सारे प्रकट किये। वेद से लेकर[2] जो शब्द लोक में प्रयोग किये जानें लगे उनकी वेद के समान आनुपूर्वी नित्य न होनें से तथा कुछ सामान्य भेद के कारण यह लौकिक संस्कृत कहलाई।

सृष्टि के प्रारम्भ में जो वेद का ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसके शब्द-अर्थ और उस शब्द-अर्थ का परस्पर सम्बन्ध नित्य है इस उच्चकोटि के सिद्धान्त को महर्षि पतञ्जलि नें "सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे"[3] कहकर प्रकट किया।[4]

यह सिद्ध हो जाने पर कि वेद के पद-पदार्थ और उनका परस्पर सम्बन्ध नित्य है यह जानना आवश्यक हो गया है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ ही क्यों है? 'गौः' शब्द सींग पूंछ वाली गाय या पृथिवी अर्थ को ही क्यों और कैसे कहने लगा, कहता है, और कहेगा, यह उसका अर्थ उस शब्द से कैसे व्यक्त हुआ है? और होगा? यह प्रश्न होता है, जिसका समाधान भी महर्षि पतञ्जलि ने यह कहकर किया—

---

१. देवो देवानां गुह्यानि नामाऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे।

(ऋ० ६।६५।२)

२. इसीलिये मीमांसकों ने यह कहा—"य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः" अर्थात् जो शब्द वेद में आये हैं सामान्यतया वही लोक में आते हैं। अन्तर यही है कि लौकिक भाषा में आनुपूर्वी वही नहीं है एवं अर्थों की व्यापकता में भी संकोच है॥

३. द्र० महाभाष्य पस्पशाह्निक॥

४. इस विषय में देखें—वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड का २३वां श्लोक—

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणामनुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः॥

(क) अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्[1]।

(ख) स्वभावत एतेषां शब्दानामेतेऽर्थेष्वभिनिविष्टानां निमित्तत्वेनाऽन्वाख्यानं क्रियते ।[2]

अर्थात् जिस शब्द का जो अर्थ है वह उसकी स्वाभाविक शक्ति पर निर्भर है इसमें मनुष्य कुछ नहीं कर सकता । यह स्वाभाविक अर्थाभिधान की शक्ति ईश्वरीय शब्दों में ही विद्यमान है, अन्य अपभ्रंशीय भाषाओं के शब्दों में नहीं । दूसरे शब्दों में कहा जाये तो इसका यह अर्थ हुआ कि वेद के प्रत्येक शब्द का अर्थ उस शब्द के अन्दर ही निहित है जिसे समझने का प्रयास हमें उस शब्द के अन्दर प्रविष्ट होकर ही करना पड़ेगा ।

जिस प्रकार एक सुन्दर फल की आकृति देखकर उसके माधुर्य या अम्लता के विषय में कुछ नहीं जाना जा सकता, उसे छील काट तथा भक्षण करके ही जाना जा सकता है उसी प्रकार शब्द का मर्म अर्थात् अमुक शब्द का यह अर्थ क्यों है ? कैसे है ? मात्र शब्द को देखकर नहीं जाना जा सकता उसे जानने की कोई विधि होनी चाहिये । शब्दों के अन्दर निहित अर्थों के जानने की वह विधि क्या है ? इसके विषय में ईश्वर स्वयं संकेत करता है[3] कि शब्दों को व्याकृत करके शब्द के मूल तत्त्व (धातु) को जानकर शब्दार्थ का मर्म समझना चाहिये ।

इस प्रकार प्रकृति (धातु) प्रत्यय विभाग पूर्वक शब्द के मूल अर्थ को जानने का नाम ही यौगिक प्रक्रिया है । शब्दार्थ के विषय

---

१. महाभाष्य २।२।२९ ॥ २. महाभाष्य २।१।१ ॥

३. च्यवनमच्युतानाम् (ऋ० ८।९६।४) अश्नन्तावश्विना (ऋ० ८।५।३१) आदि मन्त्रों में स्वयं शब्द की निरुक्ति दिखाकर शब्दार्थ को जानने का मार्ग दर्शाया गया है ॥

में वेद सम्मत इस यौगिक प्रक्रिया को प्राचीन ऋषि महर्षियों; वेद-व्याख्याकारों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। जहां पतञ्जलि मुनि ने—

"नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्"[1] ।

कहकर सब नाम धातुज हैं, यह बताया वहीं यास्क महर्षि नें—**"नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च"** (निरु० १।१२) कहकर सभी नाम आख्यातज हैं अर्थात् वेद के सब शब्द यौगिक हैं और प्रकृति-प्रत्यय के योग से अपने अर्थ को कहते हैं यह निश्चित सिद्धान्त बताया। 'निरुक्त समुच्चय' में वररुचि ने भी यही कहा—

"नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि नैरुक्त-समयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः"[2] ।

(सभी नाम आख्यातज हैं क्रिया विशेष को आधार बनाकर ही शब्दों का वाच्यार्थ होता है।)

मीमांसा तन्त्रवार्त्तिक में आचार्य कुमारिल भट्ट ने कहा—

अनन्तेषु हि देशेषु कः सिद्धः क्वेति गम्यताम् ।
निगमादिवशाच्चात्र धातुतोऽर्थः प्रकल्पितः ॥[3]

अर्थात् वेदार्थ का ज्ञान करने के लिये धातु से ही अर्थ की योजना करनी चाहिये। इसी प्रकार शौनक ने भी वद के सम्पूर्ण शब्द को यौगिक कर्म—क्रिया के आधार पर मानना चाहिये[4] यही नहीं

---

१. महाभाष्य ३।३।१ ॥

२. निरुक्त समुच्चय पृ० ३ ॥

३. मी० द० तन्त्र वा० १।३।१० पृ० २२५ ॥

४. सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः (बृहद्० १।२७) ॥

कहा अपितु उसी प्रकार के कर्म (क्रिया) के आधार पर अर्थ[1] प्रदर्शित भी किये। वेद में इस यौगिक प्रक्रियावाद का इतना माहात्म्य है कि उसे मानकर ही वेद को सब विद्याओं का आकर स्थान माना जा सकता है।

यह यौगिक प्रक्रिया वेदार्थ के परिज्ञान में मेरुदण्ड सम है इसीलिये वेदार्थ के परम ज्ञाता महर्षि यास्क नें निरुक्त में कहा—

"अर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेवं न निर्ब्रूयात् न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति।"[2]

अर्थात् अर्थ को मुख्य मानकर प्रत्येक शब्द का निर्वचन अवश्य करें, उस शब्द का धातु-प्रत्यय अवश्य बतायें। जहाँ उस शब्द से अर्थानुसारी धातु या प्रत्यय की समानता न भी मिले तो भी अक्षर या वर्ण की समानता मात्र को लेकर ही निर्वचन करें।

निरुक्त का यह स्थल निर्वचन के सम्बन्ध में इतना स्पष्ट सिद्धान्त रखता है कि "यास्क को निर्वचन का पागलपन सवार था"[3] एतादृग अल्पमतित्व का प्रमाण देने वाले जो एतद्देशीय तथा पाश्चात्त्य लागों के आक्षेप हैं वे सब निरस्त हो जाते हैं।

---

१. कर्मणा वायुमब्रुवन् (बृहद्० २।३२)

२. निरुक्त २।१ ।।

३. यास्क ने निरुक्तस्थ नैगमकाण्ड में उन्हीं शब्दों का निर्वचन किया है जिनके प्रकृति-प्रत्यय का स्पष्टतया ज्ञान नहीं होता। इसीलिये चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ही "अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्" कहा। यास्क की इस ऊहाबुद्धि को न समझकर ही लोगों के एतादृश आक्षेप हैं। विस्तार के लिये देखें श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत—यजुर्वेद विवरण भा० भू० पृ० ५४ ।।

प्रत्येक शब्द का निर्वचन क्यों करना चाहिये इस सम्बन्ध में यास्क ने निरुक्त में जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं वे भी ध्यातव्य हैं—

१. इस निर्वचनशास्त्र के बिना मन्त्रों के अर्थों को भली प्रकार नहीं समझा जा सकता।[1]

२. यह निर्वचनशास्त्र व्याकरणशास्त्र का पूरक है क्योंकि जहाँ व्याकरण शब्द की सिद्धि करता है वहीं निरुक्तशास्त्र निर्वचन द्वारा शब्दार्थ का बोध करा दता है।[2]

३. निरुक्त के बिना मन्त्रों का संहिता से पदपाठ नहीं किया जा सकता क्योंकि उपसर्ग, प्रकृति, प्रत्यय के जाने बिना यह सम्भव नहीं।[3]

४. निर्वचनशास्त्र के बिना संदिग्ध स्थलों में वेदमन्त्रों के देवता=प्रतिपाद्य विषय का निर्णय नहीं किया जा सकता।[4]

५. निर्वचनशास्त्र एक विज्ञान है अतः इसका अध्ययन करना चाहिये क्योंकि इसे समझकर ही कोई ज्ञान की प्रशंसा तथा अज्ञान की निन्दा कर सकता है।[5]

यास्क की इन युक्तियों से निर्वचनशास्त्र की महती उपयोगिता सिद्ध हो रही है।

यास्क में अर्थानुसारी शब्द निर्वचन की असाधारण पटुता थी। इसीलिये वह एक शब्द के अर्थानुकूल कई धातुओं से निर्वचन प्रस्तुत करते हैं एवं कहते हैं—

---

१. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते (निरु० १।१५)।
२. व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम् (निरु० १।१५)।
३. अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते (निरु० १।१७)।
४. अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति (निरु० १।१७)।
५. तदिदं विद्यास्थानम् (निरु० १।१५) अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञाननिन्दा च (निरु० १।१७)॥

तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि। नाना-कर्माणि चेन्नाना निर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि।"[1]

अर्थात् नाम यदि समान कर्म (क्रिया) वाले हों तो समान (धातु से) निर्वचन और यदि अनेक कर्मवाले हों तो अनेक (धातुओं से) निर्वचन कर लेने चाहियें। यास्क ने "नैकपदानि निर्ब्रूयात्"[2] अर्थात् वेद के किसी शब्द का उसके प्रकरण के बिना अर्थ न करे, प्रकरण देखकर ही निर्वचन करे, यह कहकर सतर्क किया कि प्रकरण से हटकर वेदार्थ करने से वेद के अर्थ का अनर्थ हो जाता है। यास्कीय निरुक्त के प्रथम अध्याय एवं द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद सम्पूर्ण निरुक्त को समझने के लिये प्रकाशस्तम्भ स्वरूप हैं। वस्तुतः व्याकरणादि[3] की न्यूनता के कारण यौगिक प्रक्रिया अथवा निर्वचनशास्त्र का खण्डन या अवहेलना वही लोग किया करते हैं जिनकी इसमें गति नहीं होती।

इस यौगिक प्रक्रिया का निर्वचनशास्त्र के प्रणेता यास्क ने ही नहीं अपितु सभी शब्दशास्त्र के महान् वेत्ता एवं दर्शनकारों ने भी पूर्ण समर्थन किया है, जिनके कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं--

(क) विद्यमानोऽप्यर्थः प्रमादालस्यादिभिर्नोपलभ्यते

निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः॥

॥मी॰ द॰ शा॰ भा॰ १।२।४६॥

---

१. निरुक्त २।७॥ २. निरुक्त २।३॥

३ इसीलिए निरुक्त में कहा—"नावैयाकरणाय नित्यं हि अविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया"। (निरुक्त २।३)

(ख) कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः ।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ॥वाक्यपदीय२।१७४॥

[यहां पर भर्त्तृहरि महाराज ने व्युत्पत्ति के आधार पर शब्दों के अनेक अर्थ दिखाये हैं ।]

(ग) एवमेतत् सर्वनाम्नामाख्यातजत्वं प्रतिपादितम् । तत् किमर्थम् ? उच्यते अर्थान्तरे यो रूढिशब्द-स्तस्यार्थान्तरे प्रयोगः ।......रूढ्यर्थस्यासम्भवात् कर्मनिमित्तो यथा प्रतीयेत इत्येवमर्थम् ।

(निरु० स्कन्द टीका भाग १ पृ० ६२)

वेदार्थ में निर्वचन प्रक्रिया की इतनी अधिक उपयोगिता एवं महान् प्रयोजन के होते हुए भी कतिपयजन कहा करते हैं कि **'अन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तम् अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तम्'** । वस्तुतः व्याकरण और निरुक्तशास्त्र दो भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं। व्याकरण शास्त्र का उद्देश्य जहां शब्दसिद्धि को मुख्य बनाकर चलना है वहीं निरुक्तशास्त्र का उद्देश्य शब्दगत अर्थ को प्रधान मान कर[1] शब्द का निर्वचन करना है। यह बात मस्तिष्क में बैठ जाने पर पूर्वोक्त शंका का कोई स्थान ही नहीं रहता।

शब्दों के लिये **"अन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तम् अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तम्"** मध्यकालीन काव्यलक्षणकारों का कथन अयुक्त है। महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने ८।२।४८ सूत्र के भाष्य में लिखा है--

'रूढिषु च व्युत्पत्तिनिमित्तमेव क्रिया न तु शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्' अर्थात् रूढि शब्दों की व्युत्पत्ति में क्रिया केवल व्युत्पत्ति के लिये होती है, शब्द की प्रवृत्ति निमित्त को लेकर नहीं होती। इसी प्रकार की बात ५।२।२९ में कैयट ने इङ्गुदतैलम् शब्द की व्याख्या करते

---

१. एवं व्याकरणेऽपि लक्षणप्रधाने......किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव ।
(दुर्गव्याख्या निरु० २।२)

हुए भी कही है कि–इङ्गुद ता तिल नहीं तो उससे निकले स्नेह द्रव्य को तैल कैसे कहा जाये ? समाधान किया—**रूढिशब्दश्चाय स्नेह-द्रव्यवृत्तिः**...... यथा प्रकृष्टो वीणायां प्रवीण इति व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते। कौशलं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। तेन वीणायां प्रवाण इत्यपि भवति।"

कैयट के इस कथन से प्रतीत होता है कि रुढि शब्दों के लिये प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न है और व्युत्पत्ति निमित्त भिन्न है ऐसा कहा गया है, यौगिक के लिये नहीं। वस्तुतः सर्वप्रथम शब्द की प्रवृत्ति यौगि-कार्थ वाली ही थी किन्तु कालक्रम से जब वह शब्द अपने यौगिकार्थ से हटकर किसी भिन्न अर्थ विशेष को कहने में रूढ हो गया तभी प्रवृत्तिनिमित्त एवं व्युत्पत्तिनिमित्त भिन्न प्रतीत होने लगे। उस रूढ शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर तो वह शब्द रूढ ही नहीं रहा अतः रूढ शब्दों के लिये भी **अन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तम्**— का कथन युक्ततर नहीं।

वेद के प्रत्येक शब्द के अर्थ को मुख्य मानकर जब निर्वचन की बात है तो व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न-भिन्न कैसे होंगे ? वेद के सभी शब्दों की प्रवृत्ति का आधार ही उसका प्रवृत्तिनिमित्त है और इसलिये सभी शब्द धातुज माने गये हैं किन्तु आश्चर्य है, कि वेद को अत्यन्त संकुचित दृष्टि से देखने वाले लोग "सब शब्द धातुज हैं, यह प्रायोवाद है" ऐसा कहकर अपने आग्रहिल स्वभाव अथवा अज्ञता को ही प्रकट करते हैं।

दुःख तो यह है कि एक ओर वेद के यौगिकवाद को प्रायिक कहकर वे वेद के कतिपय शब्दों और स्थलों की व्याख्या व्यक्तिविशेष की संज्ञायें मानकर करते हैं और "कुरुङ्गो राजा बभूव" जैसे निरुक्त वाक्यों का कुरुङ्ग नाम का राजा हुआ ऐसा अर्थ स्वीकारते हैं तो

दूसरी ओर निरुक्त की दी हुई–"कुहगमनाद्वा कुलगमनाद्वा"[१] व्युत्पत्ति भी दुहराया करते हैं। यास्क द्वारा इस शब्द की व्युत्पत्ति करने से ही 'वेद में इतिहास है' इस पक्ष का स्वयं खण्डन हो जाता है अन्यथा व्यक्ति का नाम मानने पर तो व्युत्पत्ति की कोई आवश्कता ही नहीं थी। किसी का नाम धनपति है तो हमें 'धनस्य पतिः' यह कथन करने की आवश्यकता नहीं सम्भव है वह धनपति न होकर दरिद्री ही हो।

"सब शब्द धातुज हैं यह प्रायोवाद है" ऐसा कहने वालों को वस्तुतः यह भय है कि सभी शब्द यौगिक मानने पर तो कोई अर्थ सम्बन्धी व्यवस्था हो नहीं रहेगी। "**अश्नुते अध्वानम्**"[२] से सभी मार्ग पर चलने वाले अश्व कहलायेंगे। "**श्मशानं श्म** (शरीरं) **शयनम्**"[३] व्युत्पत्ति करने पर खाट भी श्मशान कहलायेगी क्योंकि उस पर भी पुरुष का शरीर सोता है अतः कोई नियामकता नहीं रहेगी।

निर्वचन के सम्बन्ध में एतादृश शंकायें भी अज्ञानता की ही परिचायक हैं जैसा कि कौत्स ने "अनर्थका हि मन्त्राः[४] कहकर प्रस्तुत की थीं। जिस-जिस कर्म को देखकर जो व्युत्पत्तियां वैदिक शब्दों की, की जाती है उनमें उस कर्म को प्रधानता अवश्य रहती है जिसे विचार पूर्वक जाना जा सकता है। इस बात के समर्थन में दुर्गाचार्य का लेख अत्यन्त स्पष्ट है वे कहते हैं—

"स्वभावतो हि शब्दानां क्रियाजत्वेऽपि सति कांचिदेव क्रियामङ्गीकृत्य, अवस्थितिर्भवतीति। अथवा क्रियातिशय-कृतो नियमः स्यात् यो हि यदतिशयेन करोति तस्यानेक-क्रियावत्वेऽपि सति तद्धेतुक एव नामधेयप्रतिलम्भो

---

१. निरु० ६।२२ ॥ २. निरु० २।२७ ॥
३. निरु० ३।५ ॥ ४. निरु० १।१५ ॥

भवतीत्ययं समाधिः। अथवा न ब्रूमः—यो यत्र यदा च तक्षति स एव तक्षेति। किं तर्हि ? यो यदा यत्र तक्षा भवति, स एव तक्षेति''पश्यामोऽनेकक्रियायुक्तानामपि एकक्रियाकारितो नामधेयप्रतिलम्भो भवति''तत्र यदुक्त-मेकस्यानेकक्रियायोगादनेकनामता प्रसज्येतेति। एतद-युक्तम्। न हि प्रसज्येत। यदि चोक्तमनेकेषामेकनामतै-कस्य चानेकनामता प्राप्नोति ततश्च व्यवहाराप्रसिद्धिरिति, न हि तदुभयमस्ति। अनेकेषामेकक्रियायोगेऽपि हि सति एकस्य चानेकक्रियायोगेऽपि हि सति व्यवस्थित एव शब्द-नियमः, स्वभावत एव लोके।''[1]

अर्थात् यद्यपि सब नाम क्रियाजन्य हैं तथापि किसी क्रिया विशेष के आधार पर नामकरण का चुनाव होता है अथवा उस क्रिया को अतिशयरूप से करने वाले का वह नाम होगा। कोई भी शब्द अनेक क्रिया वाला हो सकता है किन्तु वह शब्द जो व्यक्ति उस क्रिया विशेष को अतिशय रूप में करता है उसका ही वाचक वह शब्द होगा, यही उसके उस नामकरण करने का हेतु है। भले ही वह अन्य कितने ही कार्य क्यों न करे। जो व्यक्ति कभी-कभी लकड़ी काटने बैठ जाते हैं उन सब व्यक्तियों को हम तक्षा नहीं कह सकते किन्तु जो किसी समय विशेष एवं स्थिति विशेष से बैठकर सर्वदा लकड़ी काटता है वही तक्षा कहलाता है, इसीलिये जो यह कहा कि एक नाम में अनेक क्रियाओं के युक्त होने के कारण वह नाम उन सबका वाचक बन जायेगा ऐसा नहीं। अनेक क्रिया के योग होने पर भी उस नाम में अर्थ की व्यवस्था बनी रहेगी क्योंकि

१. द्र० निरु० दुर्गवृत्ति १।१४॥

वह नाम उस नामनिष्ठ क्रिया के किसी वैशिष्टच के आधार पर रखा गया है।[1]

जो लोग "अन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तम् अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तम्" के समर्थक हैं अथवा मन्त्र अनर्थक हैं कहकर कौत्स के अनुयायी हैं उन्हें यह जानना चाहिए कि यास्क ने अपने निरुक्त में वैदिक शब्दों का मात्र निर्वचन ही नहीं किया है अपितु निर्वचन के अनुरूप ही उसी प्रवृत्तिनिमित्त वाले सभी शब्दों के उदाहरण रूप वेद के मन्त्र भी दर्शाये हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि व्युत्पत्तिनिमित्त एवं प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न नहीं तथा वेद के सभी शब्द यौगिक हैं, रूढ नहीं।

श्मशान शब्द से तात्पर्य है केवल (मृत) शरीर जहाँ शयन करे वह श्मशान है। खाट पर केवल शरीर ही शयन नहीं करता अपितु जीवात्मा सहित शरीर शयन करता है अतः खाट श्मशान नहीं है। इसी प्रकार मार्ग को तय करने के लिए अन्य पशुओं की अपेक्षा अश्व ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है अतः "अश्नुतेऽध्वानम्" कहा। वस्तुतः इस प्रकार अभिधान की दृष्टि से योगिकार्थ बताना कृतभूरिपरिश्रम, साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन करने वाले तथा योगजप्रत्यक्षी जन का ही कार्य है। जैसा कि दुर्गाचार्य ने कहा है—

"सर्वत्रैवं देवताभिधेयेष्वभिधानत एव हि देवता-आत्मनस्तत्त्वमन्तर्णीय व्यवधाय आत्मानमविदुषां परोक्षीकृत्य नित्यं वर्त्तते, तां विद्वांसस्तदभिधानव्युत्पत्ति-द्वारेण विवृत्य दैवेन चक्षुषा मनसोपजातदिव्यदृष्टयो दृष्ट्वा तादृग्भाव्यं प्रतिपद्यन्ते इति तदभिधानव्युत्पत्तौ कृत्स्नः पुरुषार्थ आहितः"।[2]

---

१. निरु० १।१४॥

२. द्र० निरु० दुर्गवृत्ति १०।८॥

अर्थात् मन्त्र के देवता (विषय जानना) बड़े गुह्य[1] हैं जो कि अपने को छिपाकर अविद्वान् के समक्ष प्रकट नहीं होते। उन्हें विद्वान् लोग शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा प्रकट करके दैवीचक्षु से दिव्यदृष्टि वाले बनकर यथावस्थित देवतात्व को प्रतिपादित कर देते हैं। इस प्रकार शब्द-व्युत्पत्ति विद्वान् का ही परम पुरुषार्थ है।"

वेदार्थ के लिये यौगिक प्रक्रिया की आवश्यकता—

१. वेद की व्यापकार्थता की सुरक्षा—चारों वेदों में समस्त संसार के ज्ञान का समावेश करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि एक शब्द के अनेक अर्थ स्वीकार किए जायें।[2] वेद स्वयं कहता है—"**गोस्तु मात्रा न विद्यते**"[3] वाणी की कोई मात्रा नहीं। इसका

---

१. मन्त्र के देवतानिर्णय के सम्बन्ध में शौनक ने भी कहा है कि देवताज्ञान के लिये योग, दक्षता, दम, बुद्धि, बहुश्रुतता, तप, विनियोग जानना आवश्यक है। वे लिखते हैं—

योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।
उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवता या ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्।
यजूंषि यो वेद स वेद यज्ञान् सामानि यो वेद स वेद तत्त्वम्॥

(बृहद्० ८।१३०)

२. यहाँ देखें—ऋ० भा० भू० प्रश्नोत्तरविषयः—

एवमत्रापि अग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद् दोषो भवतीति। अन्यथा कोटिशःश्लोकैस्सहस्रैर्ग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्त्तिरत्यन्ताऽसम्भवाऽस्ति। अतः कारणात् अग्न्यादिशब्दैः व्यावहारिकपारमार्थिकविद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वा ईश्वरेण अग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः। यतोऽल्पकालेन पठन-पाठनव्यवहारेण अल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति। परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम्।

३. यजु० २३।४८॥

अर्थ यही है कि वेद का प्रत्येक शब्द अपने अपरिमित अर्थों का बोध कराने वाला है। "अनन्ता वै वेदाः"[1] का भी तात्पर्यार्थ यही है।

एक शब्द का निर्वचन जिस धातु से किया जाएगा उस धातु के जितने अर्थ धातुपाठादि में गिनाए हैं अथवा शास्त्रप्रयोग से सम्भव[2] हैं वे सभी अर्थ उस शब्द के होंगे किन्तु यह आवश्यक नहीं कि निर्वचन द्वारा एक शब्द के जो अनेकों अर्थ उस शब्द में व्यक्त हो रहे हैं वे सब के सब अर्थ एक मन्त्र में बिना सोचे समझे लगा दिये जायें। उदाहरणार्थ—"गौरिति पृथिव्या नामधेयम्" "यद् दूरंगता भवति" कहा तथा "आदित्योऽपि गौरुच्यते"[3] भी कहा; अब ये गौ के पृथिवी और आदित्य दोनों अर्थ निर्वचन से स्पष्ट हैं किन्तु एक ही मन्त्र में एक ही समय पर 'गौ' का पृथिवी और आदित्य अर्थ कैसे हो सकता है? एक ही मानना होगा, तो वह कौन सा माना जाये इसके लिए गौ शब्द वाले मन्त्र के प्रकरण को एवं मन्त्रगत गौ शब्द के विशेषणों को देखकर निश्चित करना होगा।[4]

वेदगत किसी शब्दार्थ की सुपुष्टि विभिन्न मन्त्रों द्वारा स्वयं हो जाया करती है इसे देखकर भी मन्त्रार्थ करना चाहिए। तद्यथा—

१ तै० ब्रा० ३।१०।११-४ ॥

२. द्र० महाभाष्य—(क) बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति (१।३।१)

(ख) अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् (दुर्गटीका १।१)।

(ग) या प्रापणे इत्यस्यानेकार्थत्वाद् धातूनां याच्ञाकर्मप्रदर्शनार्थम्।

(निरु० स्कन्द टीका २।१)

३. द्र० निरु० २।५-६ ॥

४. काव्यप्रकाश में कहा है कि प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से जो शब्द अनेकार्थक हैं उनका जिस प्रकरण में जो तात्पर्य ग्रहण करना होगा वहीं अर्थ उपस्थित होता है। किसी शब्द के वाच्यार्थ निर्णय के लिए निम्न बातें वहाँ गिनाई हैं—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

"आयं गौः पृश्निरक्रमीत्"[1] मन्त्र में 'गौ' से पृथिवी अर्थ ही लिया जाएगा क्योंकि पृथिवी ही सूर्य के चारों ओर घूमती है सूर्य नहीं। जिसको सुपुष्टि **"वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता"**[2] मन्त्र कर रहा है।

वेद से ही वेद को सम्पुष्टि होती है, इस बात पर एक और उदाहरण देखें--महर्षि दयानन्द ऋ० १।३।६ के मन्त्र में इन्द्र शब्द का वायु अर्थ कैसे सम्भव है इसको ऋग्वेद के १।१४।१० मन्त्र जहाँ **"सोयं मध्वरन इन्द्रेण वायुना"** स्पष्ट लिखा हुआ हैं से सम्पुष्ट करते हैं।

यतः वेद के सभी शब्द अपने व्यापकार्थ को लिए हुए हैं अतः **वेद का प्रत्येक शब्द यौगिक है या योगरूढि** किन्तु कोई भी शब्द वेद में रूढि नहीं है यह निश्चित हो जाता है। वेद के शब्दों का अर्थ जितना सुन्दर, रहस्यमय और व्यापक सर्ग के प्रारम्भ में था उसी प्रकार आज भी है और रहेगा, लौकिक संस्कृत के समान इनके अर्थों में कोई संकोच आने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यह अपौरुषेय अनादि ज्ञान है। लौकिक शब्दों के अर्थ कालक्रम से संकुचित[3] तथा कुछ अपने धात्वर्थ से हटकर किसी और अर्थ में

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव.॥
॥ का० प्र० द्वितीय उल्लास॥

वाक्यपदीय में भी वाच्यार्थ निर्णय के सम्बन्ध में इसी प्रकार है—

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
(वाक्यपदीय २।३१५-३१६)

अर्थनियन्त्रण के लिए दर्शाए हुए उपर्युक्त बहुत से हेतु वेदार्थ में घटते हैं।

१. यजु० ३।६॥ २. अथर्व० १२।१।५२॥

३. वेद के शब्द लौकिक प्रयोग में आकर कुछ संकुचितार्थक अथवा विभिन्नार्थक भी हो गये इसीलिये वैदिक शब्दों का निर्वचन करते हुए

प्रयुक्त होने लग जाते हैं, जिसे रूढि शब्द कहते हैं पर ऐसा वेद में नहीं।

वेद में रूढि शब्द नहीं हैं ऐसा मानने के लिये अनेक युक्तियाँ एवं प्रमाण हैं—

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा—'**नैगमरूढिभव हि सुसाधु**'[1] जिसको यहाँ **नैगमाश्च रूढिभवाश्च** ऐसा पृथक्-पृथक् नैगम—वैदिक एवं रूढि कहने से स्पष्ट होता है कि वैदिक शब्द अलग हैं एवं रूढि शब्द वैदिक से भिन्न हैं अर्थात् वेद में नहीं हैं।

यह ध्यातव्य है कि लौकिक शब्द जिनका रूढि अर्थ कालक्रम से हो गया उनका वही अर्थ लोक में न मानकर व्यापक अर्थ लेने लगें तो महान् अनर्थ हो जायेगा और वैदिक भाषा में क्रिया के अनुसार यौगिकार्थ न मानें रूढि अर्थ लेने लगें तो हास्यास्पद स्थिति बन जायेगी। उदाहरणार्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि अष्टांग योगों में यम शब्द का अर्थ लोक में—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ही लिया जायेगा किन्तु वेद में यम का यौगिकार्थ के अनुसार वायु[2] परमेश्वर[3] विद्युत्[4] सूर्य,[5] न्यायाधीश,[6] नियन्ता[7] आदि प्रकरणानुसार होगा।

अनेकत्र यास्क को कहना पड़ा-'अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव। परियुतो भवति' (निरु० २।८) 'अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव' (निरु० २।१७) 'इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव'' (निरु० ४।१३) अर्थात् लोक में प्रसिद्ध शिरस् आदि शब्द वेद में प्रयुक्त व्यापकार्थ वाले शिरस् आदि शब्द के व्युत्पत्ति परक अर्थ के एक अंश मात्र हैं॥

१. द्र० महाभाष्य ३।३।१॥
२. द्र० ऋ० १।३५।६॥
३. द्र० ऋ० ७।३३।९॥
४. द्र० ऋ० ७।३३।१२
५. यमो यच्छतीति सतः (निरु० १०।१९)
६. यजु० २५।४॥
७. द्र० ऋ० २।५।१॥

निर्वचन द्वारा उपलब्ध इस विपुल अर्थभण्डार का प्रत्यक्ष हमें वैदिक साहित्य एवं उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में पदे-पदे होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक शब्दों के महान् शब्दकोश हैं और वेदार्थ का अपूर्व भण्डार इन ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वाध्याय से प्राप्त होता है। इनमें उपलब्ध शब्द निर्वचन सामग्री में ही वेद का व्याख्यानत्व विशेषतया निर्भर होता है। यौगिकवाद की इस महिमा को स्पष्ट करने हेतु यहाँ वेद के एक इन्द्र शब्द को ही प्रस्तुत किया जाता है जिसके सर्वाधिक[1] मन्त्र ऋग्वेद के कुल १०५५२ मन्त्रों में से विद्यमान हैं[2]। इन्द्र शब्द इदि परमैश्वर्ये धातु से निष्पन्न होता है जिसका मुख्यार्थ[3] परमात्मा है किन्तु गौणीवृत्ति से अन्य कितने ही पदार्थ जो-जो ऐश्वर्य सम्पन्न हैं उन-उन का वाचक इन्द्र शब्द बनता है।

यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्दशित इन्द्र शब्द के कुछ अर्थ यौगिकार्थ की व्यापकता को स्पष्ट करने हेतु प्रस्तुत हैं—

१. वागिन्द्रः (श० ब्रा० ८।७।२।६)
वाणी इन्द्र है।

२. योऽयं चक्षुषि पुरुष एष इन्द्रः (जै० उ० १।४३।१०)
जो पुरुष की आँखों में तेज है वही इन्द्र है।

३. हृदयमेवेन्द्रः (श० ब्रा० १२।९।१।१५)
हृदय ही इन्द्र है।

४. इन्द्रः क्षत्रम् (श० ब्रा० १०।४।१।५)
इन्द्र ही क्षत्रिय है।

---

१ लगभग २८६२ मन्त्र इन्द्रदेवताक ऋग्वेद में हैं।।

२. यह ऋङ्मन्त्रसंख्या विद्वद्वर्य श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक के "ऋग्वेदस्य ऋक्संख्या" लेख के आधार पर है। देखें—'मीमांसक लेखावली' पृ० २६४ से ३०६ तक।।

३. माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते (निरु० ७।४)।।

५. यदशनिरिन्द्रः (कौ० ६।६)

अशनि ही इन्द्र है।

६. स्तनयित्नुरेवेन्द्रः (श० ब्रा० ११।६।३।९)

विद्युत् ही इन्द्र है।

७. इन्द्रो ब्रह्मेति (कौ० ६।१४)

इन्द्र ब्रह्मा है।

८. देवलोको वा इन्द्रः (कौ० १६।८)

जो सूर्याख्य रश्मियों की प्रकृष्ट ज्योति है वही इन्द्र है।

९. इन्द्रो बलं बलपतिः (श० ब्रा० ११।४।३।१२)

इन्द्र ही बल एवं बलपति है।

१०. वीर्यं वा इन्द्रः (गो० उ० ६।७)

इन्द्र ही वीर्य-पराक्रम है।

११. शिश्नमिन्द्रः (श० ब्रा० १२।९ १।१६)

शिश्न ही इन्द्र है।

१२. रेतः इन्द्रः (श० ब्रा० १२।९।१।१७)

रेत इन्द्र है।

१३. स इन्द्रस्सामैव तत् (जै० उ० १।३३।१)

साम ही इन्द्र है।

१४. यस्स आकाश इन्द्र एव सः (जै० उ० १।३१।१)

आकाश ही इन्द्र है।

१५. ऋचश्च सामानि चेन्द्रः (श० ब्रा० ४।६।७।३)

ऋक् और साम इन्द्र हैं।

१६. स इन्द्रः एष सोऽप्रतिरथः (श० ब्रा० ९।२।३।५)

जो इन्द्र है वही अपराजेय है।

१७. इन्द्रो मृधां विहन्ता (कौ० ४।१)

इन्द्र शत्रुओं का मारने वाला है।

१८. वृद्धानामिन्द्रः प्रदापयिता (तै० १।७।२।३)

इन्द्र वृद्धों का प्रदापयिता है।

१९. ओकः सारी वा इन्द्रः (ऐ० ब्रा० ६।१७-२२)
इन्द्र प्रत्येक गृह में पहुँचने वाला है।

२०. इन्द्रो यज्ञस्य नेता (श० ब्रा० ४।१।२।१५)
इन्द्र यज्ञ का नेता है।

२१. इन्द्रो यज्ञस्य देवता (श० ब्रा० १।४।१।३३)
इन्द्र यज्ञ का देवता है।

२२. इन्द्रो यज्ञस्यात्मा (श० ब्रा० ९।५।१।३३)
इन्द्र यज्ञ का आत्मा है।

२३. यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः (श० ब्रा० ८।५।३।२)
इन्द्र ही आदित्य है।

२४. यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स इन्द्रः (श० ब्रा० २।३।१।७)
जो प्रकृष्ट तेज वाला है वह इन्द्र हे प्रजापति है।

२५. मध्यस्थो वा इन्द्रः (कौ० ५।४)
इन्द्र मध्यस्थ है।

२६. यत् (अक्ष्णोः) शुक्लं तदैन्द्रम् (श० ब्रा० १२।९।१।१२)
जो आँख में शुक्लता है वह इन्द्र की है।

२७. अर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम (श० ब्रा० ५।४।३७)
इन्द्र का शुक्ल नामहै, यह उसका गुह्य नाम है।

२८. इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः (गो० उ० १।२३)
इन्द्र ही क्रीडी मरुत् है।

२९. इन्द्रो वै यजमानः (श० ब्रा० २।१।२।११)
इन्द्र यजमान है।

३०. इन्द्रो वै गोपाः (ऐ० ब्रा० ६।१०)
इन्द्र रक्षक है।

३१. इन्द्रो वै त्वष्टा (ऐ० ब्रा० ६।१०)
इन्द्र ही सूर्य है।

३२. प्राण एव इन्द्रः (श० ब्रा० १२।९।१।१४)
प्राण ही इन्द्र है।

३३. यद् मनः स इन्द्रः (गो० उ० ४।११)
मन ही इन्द्र है।

३४. इन्द्रो वै वेधाः (ऐ० ब्रा० ६।१०)
इन्द्र ही ब्रह्मा है।

३५. ऐन्द्रो वै यज्ञः (ऐ० ब्रा० ६।१०)
इन्द्र सम्बन्धी ही यज्ञ है।

३६. रुक्म एव इन्द्रः (श० ब्रा० १०।४।१।६)
इन्द्र ही हिरण्य है।

३७. इन्द्रो वै वृषा (श० ब्रा० १।४।१।३३)
इन्द्र ही वृषा है।

३८. इन्द्रो वै वरुणः (गो० उ० १।२२)
इन्द्र ही वरुण है।

३९. इन्द्रो लोकम्पृणा (श० ब्रा० ८।७।२।६)
इन्द्र ही लोकम्पृणा = वाणी है।

४०. इन्द्रो वै वृत्रहा (कौ० ४।३)
इन्द्र ही वृत्र को मारने वाला है।

४१. इन्द्रो वै परुच्छेपः (कौ० २३।४)
इन्द्र ही परुच्छेप है।

४२. इन्द्रो हि षोडशी (श० ब्रा० ४।२।५।१४)
इन्द्र ही षोडशी है।

४३. इन्द्रो हि आहवनीयः (श० ब्रा० २।६।१।३८)
इन्द्र ही आहवनीय है।

४४. इन्द्र एष यदुद्गाता (जै० उ० १।२२।२)
इन्द्र ही उद्गाता है।

४५. इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः (गो० उ० १।३)
इन्द्र ही देवों में अत्यन्त ओजस्वी और पराक्रमी है।

४६. इन्द्रो वा अश्वः (कौ० १५।४)
इन्द्र ही अश्व है।

यास्क ने निरुक्त में इन्द्र शब्द के १४ निर्वचन[1] दिये हैं जिनसे उपर्युक्त अर्थों का ही प्रकाश हो रहा है। यह है यौगिक प्रक्रिया का महान् लाभ।

इन्द्र शब्द के इन अर्थों के अतिरिक्त वेदों में इन्द्र शब्द के अनेकों विशेषण ऐसे आये हैं कि जिनसे पता चलता है कि इन्द्र परमैश्वर्यं-वान् बलाधिष्ठाता ऐसा देव है कि जिसका महान् युद्ध वृत्रादि से होता है और वह सदैव उनसे जीतता है। इन्द्र का जिन-जिनसे युद्ध होता है उनके कुछ नाम निम्न हैं—

और्णवाभ[2] वल[3] वर्चिन्[4] इलीबिश[5] नार्मर[6] पृतन्यु[7] अनर्शनि[8] सृबिन्द[8] चुमुरि[9] धुनि[9] पिप्रु[10] कुयव[10] करञ्ज[11] पर्णय[11] क्रिवि[12] नमुचि[13] अर्बुद[14] शम्बर[14] अहि[15] वृत्र[16] अर्णव[17]।

तत्तत् मन्त्रों में आये इन सभी नामों को, जिनके साथ इन्द्र का घमासान युद्ध होता है को सायणाचार्य जी ने "एतन्नामकमसुरम्" कह-कह कर सबकी छुट्टी कर दी है। उनकी दृष्टि में ये सब देहधारी असुर पुरुष हैं और स्वयं इन्द्र भी देहधारी है पर किञ्चित् विचार करने पर पता चलता है कि इनमें कोई भी देहधारी पुरुष नहीं है। वृत्र के लिये यास्काचार्य की साक्षी है ही—

---

१. द्र० निरु० १०।८॥
२. ऋ० २।११।१८॥
३. ऋ० ३।३०।१०॥
४. ऋ० ६।४७।२१॥
५. ऋ० १।३३।१२॥
६. ऋ० २।१३।८॥
७ ऋ० १।३३।१२॥
८ ऋ० ८।३२।२॥
९ ऋ० ६।१८।८॥
१०. ऋ० १।१०३।८॥
११ ऋ० १।५३।८॥
१२. ऋ० २।१७।६॥
१३ ऋ० १।५३।७॥
१४ ऋ० १।५१।६॥
१५ ऋ० १।३२।२॥
१६. ऋ० २।१४।२॥
१७. ऋ० १।५६।५॥

"तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः" (निरु० २।१६) जब वृत्र मेघ है तो अनर्शनि आदि शब्द उसके ही विशेषण हैं। इन्द्र = सूर्य की किरणों का मानों मेघों के साथ घनघोर[1] युद्ध होता है तब मेघरूपी जल का शरीर पृथिवी पर टपक जाता है इसीलिये उस वृत्र को 'इलीबिश' भी कहते हैं। इन सभी शब्दों के अर्थ निर्वचन प्रक्रिया द्वारा जानने से सब भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं[2] और इनका

---

१. देखें – ऋ० १।३२ सम्पूर्ण सूक्त ॥

२. उपर्युक्त शब्दों के ऋषि दयानन्द प्रदर्शित निर्वचन निम्न हैं—
   अर्चिनम् देदीप्यमानम् मेघम् (ऋ० ६।४१।२१)।
   इलीबिशस्य – इलायाः पृथिव्याः बिले गर्ते शेते तस्य (ऋ० १।३३।१२)
   नार्मरः—नॄन् मारयति यः स वायुस्तस्यायं सम्बन्धी नार्मरः(ऋ०२।१३।८)
   चुमुरिम्—अत्तारं मेघम् (ऋ० ६।१८।८)।
   धुनिम्—ध्वनितारम् मेघम् (ऋ० ६।१८।८)।
   पिप्रुम्—व्यापनशीलम् मेघम् (ऋ० ६।१८।८)।
   कुयवम्—कौ पृथिव्यां यवा यस्मात्तं मेघम् (ऋ० १।१०३।८)।
   करञ्जम्—यः किरति विक्षिपति धार्मिकान् तं दुष्टं मेघं वा (ऋ० १।५३।८)।
   क्रिविः—प्रजापालनकर्त्ता (ऋ० ५।४४ ४)।
   पर्णयम्—पर्णानि परप्राप्तानि वस्तूनि (सूर्यरश्मिभिः आकृष्टानि जलानि वा) याति प्राप्नोति तं चौरं मेघं वा (ऋ० १ ५३।८)।
   नमुचिः—यो जलं न मुञ्चति (यजु० १९।३४)।
   शम्बरः—शं सुखं वृणोति यस्मात् स मेघः (ऋ० ४।३०।१४)।
   पृतन्युः—पृतन्यंतीति पृतन्युः (ऋ० १।३३।१२)।
   अर्बुदः—अम्बुदः (निरु० ३।१०)।

आधिदैविक आधिभौतिक या आध्यात्मिक तीनों प्रक्रियाओं में ठीक अर्थ हो जाता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि कालक्रम से ज्यों-ज्यों वेदार्थ में रूढिवाद समाविष्ट होता गया त्यों-त्यों इन्द्रादि शब्दों के अर्थ ही सिकुड़ कर नहीं रह गये अपितु इन्द्र, गणपति (गणेश) आदि शब्दों के अर्थ एक विचित्र आकार वाले जिसकी शची पत्नी भी है, जो महान् द्वेषी एवं तिकड़मबाज है तथा इसी प्रकार जो हाथी की सूंड़ वाला है, पार्वती का पुत्र है, एक दांत वाला तथा मोटे पेट वाला है को कहने के लिये ही रूढ हो गये। ब्राह्मणादि ग्रन्थोक्त सभी अर्थ समाप्त और यह रूढ अर्थ ही सब कुछ हो गया। ऐसे रूढ अर्थ ही अन्धविश्वासों के जनक बन गये। इस अनर्थ परम्परा से वेद की महती क्षति हुई। प्रकृति-प्रत्यय पर बिना विचार किये व्यक्ति विशेष का नाम मानकर वेद का अर्थ करना ऋषि परम्परा से हटना है और वेदार्थ को नष्ट करना है।

इन्द्र शब्द की चर्चा के प्रसंग में यहाँ यह बता देना भी अनुचित न होगा कि आधुनिक कुछ शोधकर्त्ताओं ने मनमाने लेखकों ने, इन्द्र सम्बन्धी बड़ी ही छिछली बातें वेदों के मत्थे मढ़ दी हैं। तद्यथा वेद के—

"यः कृष्णगर्भा निरहन्" (ऋ० १।१०१।१) के आधार पर यह बताया कि इन्द्र ने कृष्ण की गर्भवती स्त्रियों को मार डाला।

"कस्ते मातरं विधवामचक्रत्" (ऋ० ४।१८।१२) के आधार पर यह कहा—इन्द्र ने अपनी माता को विधवा बनाया अर्थात् अपने पिता को मारा।[1]

वल:—वृणोति आकाशम्। बलो वृणोतेः (निरु० ६।२)।

अर्णव: – अर्णांसि उदकानि विद्यन्ते यस्मिन् स अर्णवः (यजु० १२।४८)।

और्णवाभ:—ऊर्णा नाभ्यां यस्य तदपत्यमिव (ऋ० २।११।१८)॥

१: द्र० श्री चतुरसेन जी की पुस्तक—"वैदिक संस्कृति दृग्स्पर्श" पृष्ठ २२१ से २२४ तक॥

वास्तव में वेद के लिये ऐसी पुस्तकें कलङ्क सदृश हैं। कितने लोग इन्हें पढ़ कर वेद से विमुख और भ्रान्त हो उठते हैं, भूल एक ही है कि परम पवित्र वेदों को अनादि ज्ञान न मानकर यौगिक प्रक्रिया को तिलाञ्जलि दे देना। यहाँ कृष्णगर्भा का अर्थ ऋषि दयानन्द करते हैं—

"कृष्णा विलिखिता[1] रेखाविद्यादयो गर्भा यैः ते" अर्थात् "जिन्होंने रेखागणित आदि विद्याओं के मर्म खोले हैं।" ऋषि दयानन्द का यह अर्थ कितना उत्तम और वेदों का मान बढ़ाने वाला है यह सहज ही समझा जा सकता है। मन्त्र के एक शब्द को ही भलीभाँति जान लेने पर सम्पूर्ण मन्त्र गतार्थ हो जाता है।

२. **सूक्ष्मार्थभेदज्ञान**—व्यापकार्थ के अतिरिक्त वेद के सूक्ष्म अर्थों का प्रकाश यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है इसीलिये 'अग्निमीडे' के स्थान पर वेद में 'वह्निमीडे' नहीं हो सकता।

लौकिक संस्कृत में अग्नि और वह्नि शब्द भौतिक अग्नि के लिये समानार्थक हैं किन्तु वैदिककोश निघण्टु में 'वह प्रापणे' धातु से निष्पन्न वह्नि शब्द अपनी प्रापणत्व क्रिया की मुख्यता के कारण अश्व अर्थ में ही पठित है। यद्यपि वह्नि शब्द वेद में अग्नि अर्थ में भी अनेकत्र आया है पर प्रापणत्व धर्म को ही वहाँ मुख्य मानकर उसका वह अर्थ है, प्रकाशकत्व धर्म को मानकर नहीं। तात्पर्य है कि अग्नि और वह्नि शब्द अपने व्युत्पत्ति भेद के कारण सूक्ष्म

१. कृष विलेखने (धातुपाठ भ्वा० ग०)।

अर्थभेद भी अवश्य रखते हैं ऐसा मानना होगा। इसी प्रकार अन्य पर्यायार्थक शब्दों में समझना चाहिये।

प्रत्येक पर्यायवाची शब्द के अर्थ में परस्पर सूक्ष्म अर्थभेद अवश्य रहता है इसी बात को कहने के लिये मीमांसा दर्शन में कहा—"अन्यायश्चानेकशब्दत्वम्[१]" अर्थात् एक अर्थ के अनेक शब्दों का होना न्याय युक्त नहीं। हस्तः, करः, पाणः ये शब्द सामान्यरूप से यद्यपि एकार्थक समझे जाते हैं फिर भी इनमें अर्थ-विशेष होने के कारण प्रयोग विशेष में सूक्ष्म अर्थ का भेद रहता ही है।

३. त्रिविध प्रक्रिया का बोध—यौगिक प्रक्रिया ही एक आधार है कि जिसके बल पर शब्दों का व्यापकार्थ एवं सूक्ष्म अर्थभेद जानकर हम प्रकरण और विशेषण के अनुसार प्रत्येक मन्त्र का त्रिविध प्रक्रिया (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक प्रक्रिया) जिसका अनुमोदन सभी प्राचीन आचार्यों[२] ने किया है, कर सकते हैं। यौगिक प्रक्रिया को बिना स्वीकार किये हुए इन त्रिविध प्रक्रिया को कदापि सुरक्षित नहीं रखा जा सकता।

---

१. मी० द० १।३।२६ ॥

२ अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा (निरु० १।२०। इसी स्थल पर दुर्गाचार्य कहते हैं—"स एष सर्वोऽपि मन्त्रब्राह्मणराशिरेवं त्रेधा विभक्तः"। इस प्रसंग में आचार्य स्कन्द स्वामी ने भी कहा है—"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्राः योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह" इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्"। (निरु० ७।५)

अर्थात्—सभी मन्त्रों का इन तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ (विशेषणानुसार) करना चाहिए क्योंकि स्वयं ही भाष्यकार (निरुक्तकार) ने तीन प्रकार के अर्थों का प्रदर्शन करने के लिए 'अर्थ वाचः पुष्पफलमाह' ऐसा कहा है।

प्रसंगतः यहाँ त्रिविध प्रक्रिया के विषय में यह कह देना भी अनुचित न होगा कि कुछ लोग प्रत्येक मन्त्रों के अर्थ त्रिविध प्रक्रिया में कैसे हो सकते हैं यह कहते हुवे उदाहरण देते हैं कि

"सुमङ्गलोरियं वधूरिमां समेत पश्यत' (अथर्व० १४।२।२८)

जैसे मन्त्रों का अर्थ भला त्रिविध-प्रक्रिया में कैसे हो सकेगा? जबकि यहाँ वधू को आशीर्वाद मात्र दिया जा रहा है। मेरा यहाँ कहना यह है कि यास्क महर्षि ने स्वयं कहा है कि-"यथा जानपदोषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृष भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।" (निरु० १।१४) अर्थात् वेद का गम्भीर ज्ञान करने के लिए वहुत वड़ी विद्या वाला बनना आवश्यक है क्योंकि मनुष्य विद्या से ही विशिष्ट होता है।

जव वेदार्थ को समझने के लिए विशाल वैदिक वाङ्मय का ज्ञान होना आवश्यक है तो एतादृश मन्त्रों के विषय में अपनी विद्या की अप्रशस्तता भी कारण हो सकती है जिससे इन मन्त्रों के अर्थ (प्रसङ्ग और विशेषण के अनुसार) त्रिविध प्रक्रिया में हम न बिठा पा रहे हों। वैसे प्रकृत मन्त्र में जो "वधू" शब्द आया है वह निघण्टु कोश में नदी नामों में पढा हुआ है। देवराज यज्वा ने अपने निरुक्त में यहाँ कहा-"वहन्ति उह्यन्ते वा भूम्याम्। यद्वा समुद्रस्य भार्यात्वात् वध्व इत्युच्यते। सरित्पतिर्हि समुद्रः।"

इस प्रकार आधिदैविक अर्थ इस मन्त्र का हो गया। आध्यात्मिक अर्थ में—"इयं सुमङ्गली:=शोभनानि मङ्गलानि ऐश्वर्याणि यासु ता सुमङ्गल्यस्तासाम् वधू:=प्रापिका अर्थात्-आध्यात्मिक माङ्गल्य =ऐश्वर्य को वधू=प्राप्त कराने वाली प्रकृति को देखो" यह अर्थ हो गया, इसमें हानि या कठिनता क्या है। इस प्रकार यौगिक प्रक्रिया का यह अति विशिष्ट लाभ है कि हम शब्दों के निर्वचन द्वारा तीनों प्रकार के प्रत्येक मन्त्र के अर्थ प्रकरण और विशेषण के अनुसार कर सकते हैं।

४. निन्दनीय अर्थों का परिहार तथा श्रद्धा की रक्षा—यह सर्वमान्य बात है कि अपठित अथवा सुपठित सभी की वेद के प्रति युगों-युगों से श्रद्धा एवं विश्वास चला आ रहा है। इस श्रद्धा और विश्वास को वेद के प्रत्येक शब्द को यौगिक मानकर ही सुरक्षित रखा जा सकता है। अन्यथा—"मातुर्दिधिषुमब्रवम् स्वसुर्जारः शृणोतु नः"[1] जैसे मन्त्र में आये 'स्वसुर्जारः' का कितना फूहड़ अर्थ हो जायेगा। यौगिक प्रक्रिया को स्वीकार करने पर 'जृष् वयोहानौ' से जार शब्द बनकर वहिन रूपी उषा का जार=उसकी आयु को उपक्षीण करने वाला 'सूर्य' भाई होगा। प्रकरण और रूपकालंकार के अनुसार यहाँ स्वसा उषा तथा सूर्य भाई है क्योंकि दोनों एक रात्रि माता से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार "द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र"[2] (ऋ० १।१६४।३३ मन्त्र में आये पिता दुहितुर्गर्भमाधात् की स्थिति है। यहाँ सांसारिक व्यवहार को न घटा कर दुहिता एवं पिता का यौगिक अर्थ ही माना जायेगा अन्यथा वेद उपहासास्पद बन जायेंगे। वेद के ऐसे स्थलों पर पाश्चात्य स्कॉलरों ने जो वेद पर घोर अश्लीलता का आरोप मढ़ा है उसका निराकरण यौगिक प्रक्रिया से ही सम्भव है। आचार्य सायण ने भी यहाँ 'दुहितुः=दूरे निहितायाः भूम्याः गर्भं सर्वोत्पादनसमर्थं वृष्टयुदकलक्षणम् आधात् सर्वतः करोति" ऐसा अर्थ किया है।

५—वेद में अचेतन में चेतनवत् व्यवहार का समाधान—वेद में बहुत स्थलों पर प्राकृतिक जड़ पदार्थों के परस्पर भाई बहिन, बहिन-बहिन, माता पुत्र, पिता-पुत्र, पुत्री जैसे सम्बन्ध दिखाये हुये हैं। इतना

---

१. ऋ० ६.५५।५। २. द्र० द० 10 ऋ० १।१६४।३३, भावार्थः—भूमिसूर्यौ सर्वेषां मातापितृबन्धुवद् वर्त्तेते इदमेवास्माकं निवासस्थानं यथा सूर्यः स्वस्मादुत्पन्नाया उषसो मध्ये किरणाख्यं वीर्यं संस्थाप्य दिनं पुत्रं जनयति तथैव पितरौ प्रकाशमानं पुत्रमुत्पादयेताम्।

ही नहीं एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ कहीं बहिन-भाई[1] का सम्बन्ध दिखाया है तो कहीं पिता-पुत्री माता का दिखाया है। जड पदार्थों में परस्पर ऐसे चेतनवत् पारिवारिक सम्बन्ध नहीं घट सकते यह सब जानते हैं किन्तु वेद की आलंकारिकता है जो ऐसे काव्यमय वर्णन द्वारा विशेष ज्ञान रखा गया है। यथार्थ में विचार करने पर इन पदार्थों के पिता-पुत्र आदि व्यवहार यौगिकार्थ पर ही आश्रित हैं। उत्पादकत्व या पालकत्व धर्म को लेकर पिता, भरण-पोषणत्वादि धर्म को लेकर भ्राता आदि व्यवहार सर्वत्र इन सम्बन्धों में दृष्टिगोचर होते हैं और उसी कर्मसाम्य को लेकर ऐसा व्यवहार परस्पर किया गया है। उदाहरणार्थ लीजिये—"रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात्"[2] मन्त्र में सूर्य को उषा का वत्स—पुत्र बताया है, वह कैसे? इस पर यास्क का निर्वचन है "सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्याद् रसहरणाद्वा।"[3] अर्थात् उषा के साथ-साथ रहने से अथवा रात्रि में टपकी हुई ओसरूपी दुग्ध=रस का हरण=पान करने से। इस प्रकार के सैकड़ों स्थलों के व्याख्यान का आधार यौगिक प्रक्रिया ही है। न केवल महर्षि दयानन्द अपितु सायणाचार्य भी ऐसे अनेकों स्थलों पर व्युत्पत्तिपरक ही अर्थ करते हैं जिसके कुछ नमूने निम्न हैं—

सायण भाष्य	**दयानन्द भाष्य**
१. सर्वेषां निर्मातृत्वात् माता=पृथिवी दुहिता=दूरे निहिता द्यौः	माता=मान्यप्रदा जननीव रात्रिः। दुहितेवोषा

---

१. उषा को उत्पादकत्व सम्बन्ध से ही दुहितर्दिवः सूर्यस्य दुहिता कहा है—द्र० ऋ० १।४८।१।। ऋ० १।४९।२।। ५।७९।२।। ऋ० ६।६४।४-५।।, १।११६।१७।। उषा को सूर्य की बहिन भी बताया है—भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व (द्र० ऋ० १।१२३।५) लोक में एक ही व्यक्ति पुत्री एवं बहिन नहीं हो सकती पर वेद में यौगिकार्थ के बल पर यह सम्भव है।

२. द्र० ऋ० १।११३।२।।

३. निरु० २।२०।।

सायण भाष्य	दयानन्द भाष्य
......क्षीररूपरसस्य दोग्ध्र्यौ अत एव धेनू जगतः प्रीणयित्र्यौ ते=द्यावापृथिव्यौ (ऋ० ३।५५।१२)।	धेनुवद् रसप्रदे ॥
२ एकस्मादेवान्तरिक्षादुत्पन्नत्वात् परस्परं स्वसृभावः। तथाप्यह्नः प्राथम्यात् तेजस्वित्वाच्च ज्यायस्त्वम्। स्वयमेव सरतीति वा स्वसा=रात्रिः। स्वस्रे=ज्यायस्यै उक्तरीत्या ज्येष्ठायै योनिम्=उत्पत्तिस्थानम् अपररात्ररूपम् ......। ऋ० १।१२४।८)।	स्वसा=भगिनी स्वस्रे=भगिन्यै ज्यायस्यै=ज्येष्ठायै ... उषाः सूर्यस्य रश्मिभिः सहाञ्जि समनगा इव अङ्क्ते ॥
३. एकः=प्रधानभूतः असहायो वा पुत्रस्थानीयः आदित्यः। तिस्रः मातृः=सस्यवृष्टयाद्युत्पादयित्रीः। क्षित्यादिलोकत्रयमित्यर्थः....। त्रीन् पितॄन्=जगतां पालयितॄन् .... अग्निवायुसूर्याख्यान् ..... (ऋ० १।१६४।१०)।	एकः=सूत्रात्मा वायुः। मातृः=उत्तममध्यमनिकृष्टरूपा भूमीः। पितॄन्=पालकान्

इसके अतिरिक्त वेद के तनूनपात्[1] गौ का नाती=घृत अपांनपात्[2] जल का नाती=अग्नि जैसे शब्द भी सम्बन्धवाचकता

१. द्र० निरु० ८.५ तनूनपात् आज्यमिति कात्थक्यः। नपात् इत्यननन्तरायाः प्रजाया नामधेयम्। गौरत्र तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगाः। तस्याः पयो जायते। पयस आज्यं जायते ॥

२. द्र० निरु० १०।१८ अपांनपात् तनूनप्त्रा व्याख्यातः। अर्थात् अपांनपात् की व्याख्या तनूनपात् के समान समझनी चाहिये। जल से उत्पन्न काष्ठ समिधायें जल की पुत्र तथा उनके दहन से उत्पन्न जो अग्नि है वह अग्नि यहाँ जल का नाती हो गया।

के बीज यौगिकार्थ को ही समर्थित करते हैं।

६ – अतीन्द्रिय एवं परोक्ष अर्थों का ज्ञान वेद के सैकड़ों शब्दों के अर्थ पृथिवी अन्तरिक्ष एवं द्यौ तीनों लोकों के पदार्थों के वाचक हैं जिन्हें यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही जाना जा सकता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि तीनों लोकों के आधिदैविक पदार्थों एवं क्रियाओं में कितना साम्य है।[1] वेदों के पठन-पाठन के ह्रास होने पर जब लोगों की दृष्टियां प्रत्यक्ष जीवनचर्या में देखे और सुने जाने वाले ज्ञान तक ही सीमित रह गई तब वैदिक शब्दों का अतीन्द्रिय एवं परोक्ष अर्थ समाप्त होने लगा। व्युत्पत्तिवाद द्वारा ही ऐसे अतीन्द्रिय अर्थों का संकेत प्राप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ –

(क) वेद का पृथिवी शब्द न केवल प्रत्यक्षदृष्ट भूमि का वाचक है अपितु "प्रथनात् पृथिवी"[2] निर्वचन के आधार पर यह शब्द पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यु तीनों लोकों का वाचक है।[3]

(ख) अग्नि शब्द तीनों लोकों की अग्नियों का वाचक है।[4] इसी

---

१. इन दैवी रहस्यों को रोचकता से समझाने के लिये ही यज्ञ-यागादि का विशेष प्राबल्य हुआ था किन्तु उसमें भी अज्ञानता से शनैः शनैः नाना आडम्बर प्रविष्ट हो गये।

२. निरु० १।१३॥

३. यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः (ऋ० १।१०८।९) इस मन्त्र में सायणाचार्य ने भी लिखा है – अत्र पृथिवीशब्दः त्रिष्वपि लोकेषु वर्तते यथा—'यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्यामस्यायुषा नाम्ना' (तै० सं० १।२।१२।१) इति। उत अपि च परमस्यामुत्कृष्टायां दूरे वर्तमानायां पृथिव्यां द्युलोके॥

४. द्र० अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ ऋ० १।१६४।१॥

प्रकार वेद का "गौ." शब्द पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय[1] (माध्यमिका वाक् मेघ का गर्जन) तथा द्युस्थानीय तीनों का वाचक है।

(ग) अश्व शब्द पार्थिव ही नहीं "अप्सु योनिर्वा अश्वः" । तै० ब्रा० ३।८।४।३) के प्रमाण से आपः से उत्पन्न हुए अश्व के अन्तरिक्ष स्थानीय भी है। "असौ वा आदित्योऽश्वः" (तै० ब्रा० ३।९।२३।२) के प्रमाण से द्युस्थानीय भी अश्व हैं ही, इसी प्रकार अश्व के पर्यायवाची दधिक्रा शब्द के लिये बृहद्देवता में कहा है

अपामम्बरगमौघम् आदधत्सोऽष्टमासिकम् ।

यत्क्रन्दत्यसकृन्मध्ये दधिक्रास्तेन कथ्यते ।। (बृहद्० २।५६)

अर्थात् ये आठ मास तक आकाश में जलों को धारण करते हैं और उनके बीच कभी-कभी गर्जन भी करते[2] हैं अतः दधिक्रा हैं। वस्तुतः "आपो वा एते यत्पशवः" (जै० ब्रा० ३।१४६। "आग्नेया वै पशवः" (कपि० सं० ३८।१) इत्यादि प्रमाणों के आधार पर पशु केवल पार्थिव ही नहीं अपितु तीनों लोकों में स्थित गुणानुसार विभिन्न दैवी पदार्थों के नाम हैं। यह सब व्युत्पत्तिवाद से ही जाना जा सकता है।

(घ) समुद्र शब्द भी पार्थिव, अन्तरिक्षस्थ तथा आदित्य का वाचक है।[3]

---

१. सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते (निरु० २।६)। गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ (ऋ० १।१६४।२८)

२. तुलना करो निरु० २।२७ दधत् क्रन्दतीति ।।

३. समुद्र शब्द का निर्वचन निरुक्त में ५ प्रकार से निर्दिशित किया है— (१) समुद्द्रवन्त्यस्मादापः (२) समभिद्रवन्त्येनमापः (३) सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि (४) समुदको भवति (५) समुनत्तीति वा (निरु० २।१०) यहाँ प्रथम निर्वचन के आधार पर आदित्य वाचक बनेगा। शेषर निर्वचन पार्थिव एवं अन्तरिक्षस्थ समुद्र के वाचक होंगे। पार्थिव एवं अन्तरिक्षस्थ दो समुद्र हैं, इसके लिए वेद का प्रमाण है—स उत्तरस्माद् अधरं समुद्रम् -(ऋ. १०।९८।५)।।

इन उदाहरणों से सिद्ध है कि इस निर्वचन विद्या को पदे-पदे समझ कर ही आधिदैविक अतीन्द्रिय रहस्यों का बोध हो सकता है। हमें शब्दार्थों की इस रहस्यमयता, व्यापकता का ही संकेत वैयाकरणों की "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" इस उक्ति में प्राप्त होता है जिसे नागेश भट्ट ने स्पष्ट करते हुए कहा है—

"सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः"[1] इसी का विस्तार महाभाष्य टीका में इस प्रकार है—

"वस्तुतस्तु सर्वेषां सर्वार्थवाचकत्वेऽपि
तन्नास्मदादिज्ञानविषयः।
सर्वार्थसर्वशब्दानामस्माकं विशिष्याज्ञानात्।
किन्तु योगिनामेव तज्ज्ञानम्[2]।"

७ पर्यायवाची शब्दों के परस्पर अर्थ भेद का ज्ञान—वेद में बहुत स्थलों पर पर्यायवाची शब्दों का एक ही मन्त्र में प्रयोग होता है। ये पर्यायवाची शब्द परस्पर शब्द के किसी गुण (कर्म) की सदृशता को लेकर बनते हैं। कोई शब्द किस गुण की सदृशता को लेकर पर्यायवाची बना है इसे गुणों का विभाग करके ही जाना जा सकता है जो कि यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है। मीमांसा दर्शन में "गुणवादस्तु"[3] कह कर यही सिद्धान्त निश्चित किया है कि शब्दार्थ का निश्चय गुणों को लेकर (प्रकरणानुसार) किया जाये।

मीमांसा दर्शन के बलाबलाधिकरण में आये "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" की संगति यौगिक प्रक्रिया का आश्रय लिये बिना सम्भव ही नहीं अन्यथा इन्द्र देवता वाली "कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि

---

१. परमलघुमञ्जूषा-लक्षणानिरूपणप्रकरणम् पृ० ४८।
२. महाभाष्य उद्योत टीका १।१।६८॥ ३. मी० द० १।२।१०॥

दाशुषे"[1] ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान होना सम्भव नहीं किन्तु यौगिकवाद का आश्रय लेकर ञिइन्धी दीप्तौ धातु से इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति मानने पर इन्द्र का अर्थ परमैश्वर्य परक न लेकर प्रकाशमान अग्नि ले लिया गया तभी विनियोजक वाक्य की संगति लग सकी।

अथर्ववेद में कहा—अश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः[2] इसका अर्थ घोड़े-घोड़े बन जायें और गायें घोड़े बन जायें नहीं अपितु हे अश्वो! तुम वाजिनः[3]=वेग वाले तथा हे गौओ! वेग वाली बनो होगा; स्पष्ट है कि अश्व का पर्यायवाची 'वाजी' वेगत्व गुण के कारण से है। जब मन्त्रार्थ करेंगे तो एक शब्द अपने यौगिकार्थ को लेकर विशेषणवाची बनेगा तो दूसरा विशेष्य शब्द योगरूढि वाला होकर परस्पर मिलकर शब्दार्थ कहेंगे। यहां इस प्रकार के कुछ और उदाहरण लें—

(क) अश्वं न वाजिनम् (ऋ० ७।७।१)
(उत्तम वेगवाले घोड़ों के तुल्य)

(ख) अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तः (ऋ० ९।८७।१)
(वेगवान् घोड़ों को स्वच्छ करते हुए)

(ग) वत्सं गावो न धेनवः[4] ऋ० ६।४५।२८)
(बछड़े को दूध देने वाली गौए जिस प्रकार प्राप्त होती हैं)

(घ) भानना[5] सं सूर्येण (ऋ० ८।९।१८)
(प्रदीप्त किरणों के साथ सूर्य

उपर्युक्त उदाहरणों में पर्यायवाची शब्दों को विशेषण बना कर

---

१. ऋ० ८।५१।७॥ २. अथर्व० ९।४।४॥
३. वाजी वेगवान् अश्वः (वज गतौ) द्र० द० भा० यजु० ११।१८॥
४. धयन्ति पिबन्ति यस्याः सा धेनुः, धेट इच्च (उ० ३।३४)।
५. भा दीप्तौ धातु से औणादिक नु प्रत्यय (उ० ३।३२)।

ही अर्थ होगा और उन विशेषणों का यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही अर्थ जाना जा सकेगा और कोई उपाय नहीं। इसे न मानने पर सारा मन्त्रार्थ ही व्यर्थ हो जायेगा।

८ वेदाङ्ग निरुक्त की सार्थकता—इस महती उपयोगी यौगिक प्रक्रिया[1] को स्वीकार न करने पर एक पृथक् निरुक्त शास्त्र वेदाङ्ग ही व्यर्थ हो जाता है जिसको कि 'निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते[2] जैसी महनीय उपमा प्राप्त है।[3]

९ वेद में मानवीय इतिहास का खण्डन—वेद एवं वैदिक साहित्य में आये हुए इतिहास जैसे प्रतीत होने वाले वचनों अथवा संवादों की भली प्रकार संगति यौगिक प्रक्रिया का बिना आधार लिये हुए कदापि नहीं लगाई जा सकती। मध्य काल में यौगिक प्रक्रिया का ह्रास होने के कारण ही वेद में मानवीय इतिहास अथवा जड़-चेतन संवाद की कल्पनायें की गईं और उन्हें यथार्थ मान कर वेद पर दोष मढ़ा गया। जो आख्यान-उपाख्यान वेद में ज्ञान-विज्ञान सिद्ध करके वेद का मान बढ़ाने वाले थे वही अनित्य इतिहास मान लेने से

---

१. वेंकट माधव ने अपने ऋग्भाष्य में निर्वचन शास्त्र की महिमा इस प्रकार कही है—"निरुक्तमग्रतः कुर्याद् यावत्प्राणं तथा स्वरम्" (ऋ०वे.मा.भा. १।१।१। इसी प्रकार देखें—बृहद्देवता 'शब्दरूपं पदार्थंश्च व्युत्पत्तिः प्रकृतिर्गुणः (बृहद् २।१०८)।

२. पा० शि० ४१-४२।

३. शब्द सुनते हुए भी जब किसी को उसके अर्थ का बोध न हो पाये तो उसे ही—उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् (ऋ० १०।७१।४) वेद में कहा है। निरुक्त शास्त्र के बिना मनुष्य शब्द को तो सुनता है पर व्युत्पत्ति रहित होने से पूर्णतया अर्थ नहीं जान पाता इसलिये उसका सुनना न सुनना एक जैसा है अतः निरुक्त शास्त्र की उपमा श्रोत्र से दी है।

वेद का महत्त्व क्षीण करने लगे। वेद के जिन शब्दों के आधार पर ऐतिहासिक कल्पना की गई वस्तुतः वे व्यक्ति विशेष के नाम थे ही नहीं। एक पुरूरवा[1] उर्वशी संवाद को ही लें—"पुरूरवा बहुधा रोरूयते" (निरु० १०।४६) मान कर मेघवाची है, "उर्वशी ऊरुम्याश्नुते" (निरु० ५।१३) से विद्युत् है और विद्युत् तथा मेघ के संयोग से जो उदक उत्पन्न हुआ वही आयु नामक इनका पुत्र है। इस सम्पूर्ण सूक्त में विद्युत्, मेघ और वृष्टि का ही भाव दर्शाया हुआ है। मानुष इतिहास के रूप में इस प्रकार के वर्णन वेद के व्याख्यान-रूप ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रोचनार्थ हैं[2] अर्थात् गौण[3] हैं। उनका लक्ष्यार्थ यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही समझा जायेगा। मीमांसा दर्शन में यह भी कहा है कि—"अभिधानेऽर्थवादः"[4] अर्थात् जब मन्त्र में शब्द से निकलने वाला मुख्य अर्थ प्रत्यक्ष के विरुद्ध (असम्भव) हो तो उससे गौण अर्थ लेना चाहिये। निरुक्त में "बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति[5]" कहा अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ उपचार से गौणभाव से गुणों का अतिसूक्ष्म विभाग करके अनेक अर्थों को कहने वाले होते हैं।

निरुक्त, स्कन्द, दुर्ग, वररुचि आदि सभी ने मानवीय इतिहास से प्रतीत होने वाले इन सभी स्थलों में यही कहा है कि मन्त्रों में

---

१ ऋ० १०।९५ सम्पूर्ण सूक्त।

२. गुणवादेन प्ररोचनार्थतां ब्रूमहे। गौणत्वात् संवादः (मी० द० भा० १।२।२२)।

३. न हि मुख्ययैव वृत्त्या लोके शब्दाः प्रवर्त्तन्ते, गौण्यापि वृत्त्या व्यवहार-दर्शनात्। एवं वेदेऽपि तेषां तथा प्रयोगो भविष्यति (न्यायमञ्जरी प्रमाण-प्रकरणम् पृ० ४०७)।

४. मी० द० १।२ ४६॥   ५. निरु० ७।२४॥

इतिहास औपचारिक है वास्तविक नहीं[1]। निरुक्तकार यास्क को वेद में इतिहास कदापि अभिप्रेत नहीं है यह उनके "तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति"[2] ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता"[3] जैसे कथन से पूर्णतया स्पष्ट है। व्याकरण की "व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्[4]" परिभाषा के अनुसार किसी भी शास्त्र के अध्येता को व्याख्यानादि द्वारा सत्यसिद्धान्त का ज्ञान करना चाहिये न कि केवल सन्देह। निरुक्त में इतिहास बताने वाले लोग यास्क और उनके शास्त्र की गरिमा को ही नष्ट नहीं करते अपितु सम्पूर्ण ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रन्थों के ज्ञान-विज्ञान एवं रहस्यों से वञ्चित हो जाते हैं।

कालक्रम से वैदिक रहस्यों को भूल कर जब वेदभाष्यकार सायण, उव्वट, महीधरादि ने वेदों का भाष्य प्रस्तुत किया तो इसमें नाना प्रकार के मनगढ़न्त मानवीय इतिहासों की भरमार कर दी। आश्चर्य

---

१. स्कन्द - एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। तथा च वक्ष्यति तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः इत्यादि। 'मध्यमञ्च माध्यमिकाञ्च वाचम्' इति नैरुक्ताः। रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयत इति। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः, परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम् (स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ७८ सर्वे इतिहासाश्चार्थवादमूलभूताः (भाग २ पृ० ९३)।

दुर्ग—आस्यादिकल्पना दृष्टव्यभिचारित्वाद् ग्रावप्रभृतिषु न सम्भवति रूपकमात्रं स्तुत्यर्थं संकल्पतो बाह्वादिकार्यसिद्धिः ....ह्युदकात्मिकाया नद्या वहन्त्या रथेऽवस्थानं सम्भवति....तदेवमादिष्वसम्भवात् मुख्यार्थकल्पनायाः, मन्त्रेषु रूपकप्रवादाः स्तुतय इत्युपेक्ष्यम् (निरु० ७।७) वररुचिः - एवं नैरुक्तपक्षे योजना, औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एव इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः निरुक्तसमुच्चय पृ० ८६)।

२. निरु० २।१६॥ ३. निरु० १०।१०॥ ४. परिभाषा-१॥

है कि श्री सायण अपने वेदभाष्य में व्याकरण, निरुक्त, एवं तत्तत् मन्त्र सम्बन्धी श्रौतसूत्रों में प्रदर्शित विनियोग, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि में उपलब्ध सभी सामग्री को प्राय. अविकलरूप से उद्धृत करते जाते हैं फिर भी उस ज्ञानराशि का अपने लेख में कोई सामञ्जस्य नहीं बिठाते और मानवीय इतिहास परक व्यक्ति-वाचक अर्थ करते जाते हैं, जबकि निरुक्तादि के निर्वचन सृष्टिविद्या के पदार्थों का आधिदैविक संकेत देते हैं। एक उदाहरण लें–ऋ०२।१२ के सम्पूर्ण सूक्त को सायणाचार्य गृत्समद के यज्ञ में गया हुआ इन्द्र गृत्समद का ही रूप धर कर भाग निकला, लोगों ने गृत्समद को इन्द्र समझ कर पकड़ लिया तब गृत्समद ने कहा—"नाहमिन्द्रः स जनास इन्द्रः" इस इतिहास के रूप में वर्णित करते हैं। जबकि "यो जातएव प्रथमो मनस्वान्" इस प्रथम मन्त्रका अर्थ करते हुए ही 'अत्र निरुक्तम्' कहकर—"यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभवद् पर्यगह्णात् पर्यरक्षदत्यक्रामदिति वा यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीताम् नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्वेन स जनास इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता (निरु० १०।१०) इति ॥"

यहाँ निरुक्त के "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति ...॥ इस वचन को जिसे सायण उद्धृत कर रहे हैं उससे तो वेद में मानवीय इतिहास का जोरदार खण्डन हो रहा है तथापि सायणाचार्य जी महाराज आँखें मूँदकर इतिहास परक ही अर्थ लिखे जा रहे हैं। यह है इन मध्यकालीन वेद-भाष्यकारों का हाल !!!

वस्तुतः सायण की सबसे बड़ी भूल यही है कि वे तत्-तत् वेदमन्त्र सम्बन्धी सम्पूर्ण संकलन करके भी वेदसम्बन्धी कोई निश्चित दृष्टिकोण अथवा अवधारणा हमें उपलब्ध नहीं करा पाते। उनके सम्पूण भाष्य को

पढ़ने के पश्चात् कोई भी व्यक्ति वेदसम्बन्धी किसी भी दृष्टिकोण पर आस्था नहीं बना पाता, क्या ही अच्छा होता कि वे यह संकलन एवं कथायें लिखने की अपेक्षा प्रत्येक मन्त्र का अन्वय, पदार्थ, भावार्थ दिखा कर अर्थ कर देते जिससे वेद की महत्ता का ज्ञान सबको हो सकता।

'वेद ईश्वरीय ज्ञान है" अतः इसमें अनित्य इतिहास का होना सम्भव नहीं यह बात सायणाचार्य नहीं मानते ऐसी बात नहीं, वे अपनी ऋग्भाष्यभूमिका एवं भाष्य में भी यह पूर्णतया स्वीकार करते हैं कि वेद सर्वज्ञ प्रभु का दिया हुआ ज्ञान[1] है पर जब

---

१. अपने ऋग्वेद उपोद्घात में सायण ने वेद पौरुषेय हैं पर प्रबल पूर्वपक्ष रखते हुए विचार किया है तथा मीमांसा दर्शन, वेदान्त दर्शन एवं "वाचा विरूप नित्यया" (ऋ० ८.७५।६) आदि मन्त्रों द्वारा वेद अपौरुषेय हैं नित्य हैं इस पक्ष को ही सुपुष्ट किया है एवं अपने भाष्य में प्रति अष्टक एवं अध्याय के प्रारम्भ में 'यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्। निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥" यह श्लोक उद्धृत किया है। इतना ही नहीं "आदिसृष्टौ तु कालाकाशादिवदेव ब्रह्मणः सकाशाद् वेदोत्पत्तिराम्नायते। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन वेदस्य वक्तृदोषाभावात् स्वतःसिद्धं प्रामाण्यम्। (द्र. तै सं. भा. सायण का उपोद्घात पृ. ४०) यहाँ स्पष्ट सायण ने वेद का स्वतः प्रामाण्य ईश्वरीय ज्ञान होने से स्वीकार किया है किन्तु अपने भाष्य में ऐसा कहकर भी वे धींगा मस्ती से इतिहास परक अर्थ करते जाते हैं जो वदतो व्याघात है ॥

अर्थ करने लगते हैं तो कभी श्वैत्रेयः[1] का अर्थ "श्वित्राख्याया योषितः पुत्रः पुरा शत्रुभयात् जले मग्नः सन्"..... (ऋ० १।३३।१४) यह इतिहास बताते हैं। कभी एतश नामक व्यक्ति के युद्ध की बात बताते हैं[2] और सूर्य के साथ हुये युद्ध में सूर्य का एक चक्र चुरा लिया गया अतः "सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्"[3] मन्त्र में सूर्य को एक चक्र वाला बताया है यह मानवीय इतिहास तथा असम्भावित घटना बताकर सुनाकर वेद को पौरुषेय एवं अनित्य सिद्ध कर देते हैं।

महामुनि पतञ्जलि "सुदेवोऽसि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः"[4] मन्त्र में आये "सप्त सिन्धवः" का सात विभक्तियाँ अर्थ करते हैं किन्तु सायण "गङ्गाद्याः सप्त नद्यः"[5] ही अर्थ करते हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि लोक में गंगा आदि नाम रखने के बाद वेद बना। उपर्युक्त कुछ उदाहरण इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि सायणाचार्य वेदभाष्य करते हुए आख्यानादि के पक्षपातों एवं याज्ञिक प्रक्रिया के आग्रह से ही विशेष रूप से ग्रस्त रहते हैं जिससे यथार्थ अर्थ तिरोहित हो जाता है। यही स्थिति उव्वट महीधरादि की भी है।

---

१. श्वित्राया वर्णकर्त्र्याः भूमेरपत्यम् श्वैत्रेयः=भूमि का अपत्य - मेघ (ऋषि दयानन्द)

२. द्र० ऋ० सा० भा० ६।३१।३॥ ३. ऋ० १।१६४।२॥

४. द्र० महाभाष्य पस्पशाह्निक। ५. द्र०ऋ०सा०भा० ८।६९।१२॥

सचमुच इन भाष्यकारों की बड़ी द्वैध स्थिति है, ये यौगिक प्रक्रिया को सर्वथा छोड़ भी नहीं पाते और पूर्णतया अपना भी नहीं पाते। पूर्णतया न अपनाने में उनकी स्थूल दृष्टि तथा अज्ञान ही कारण है।

वेद में अनित्य इतिहास स्वीकार करने वाले इन मध्यकालीन भाष्यकारों द्वारा एक महान् अनर्थ जिसके भीषण ऐतिहासिक दुष्परिणाम हुए हैं; यह हुआ कि वेद् में आये गृत्समद, वसिष्ठ, वामदेव आदि नाम जो बाद में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के उपाधिमूलक नाम बने थे उन सब वेद स्थित शब्दों को ऐतिहासिक पुरुष मानकर ही अर्थ किया, इतना ही नहीं मन्त्र के अग्नि, वरुण, अश्विनी आदि देवता[1] भी व्यक्ति विशेष के वाचक बना दिये। जो ऋषि वेद मन्त्रों के अर्थों के द्रष्टा थे उनके नाम (चाहे वे उपाधिमूलक हों अथवा वेद के शब्द देख कर ऋषियों अपना वह नाम ही रख लिया हो) क्योंकि वेद में प्राप्त हो जाते हैं अतः उन ऋषियों मनुष्य देहधारियों का इतिहास वेद में है यही मान कर समूचा वेदार्थ नष्ट कर दिया। जब इन शब्दों का व्यक्तिवाचक अर्थ हो गया तो इनका द्रष्टृत्ववाद भी समाप्त कर इन्हें कर्त्ता मान लिया गया जब कि सर्वानुक्रमणी में स्पष्ट इन नामों के साथ 'सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत् वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत्'' कहा है। यहाँ 'अपश्यत्' क्रिया द्रष्टृत्ववाद की ही समर्थक है।

यह निश्चित है कि वेद में आये इन वसिष्ठादि शब्दों का यौगिकार्थ मानकर ही वास्तविक वेदार्थ को जाना जा सकता है। जैसा कि शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, बृहदारण्यक उप-

---

१. या तेन उच्यते सा देवता (ऋक्सर्वानुक्रमणी)।

निषद् आदि में इनका अर्थ किया गया है[1]। इन सब प्रमाणों के रहतेइन शब्दों का यौगिकार्थ न लेकर इनको व्यक्ति विशेष के वाचक मानना वेदार्थके साथ अन्याय है।

कितने खेद की बात है कि वेद के इतिहासपरक अर्थ करते हुए जिन

---

१. (क) स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदः तस्माद् गृत्समद इत्याचक्षते·····तद् यस्येदं विश्वं मित्रमासीत् तदिदं किञ्च तस्माद् विश्वामित्रः·········तं यद्देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वाम इति तस्माद् वामदेवः·········स यदिदं सर्वं पाप्मनोऽत्रायत तदिदं किञ्च तस्मादत्रयः····· ····प्रजा वै वाजस्ता एष बिभर्त्ति यद् बिभर्त्ति तस्माद् भरद्वाजः··········अयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठ इति ···· (ऐत० आ० २।२।१-२)।

(ख) सोऽयास्य आङ्गिरसो ऽङ्गानां हि रसः·········प्राणो हि वा अङ्गानाꣳ रसः तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति। एष हि वा अङ्गानाꣳ रसः (बृह० उ० १।३।१९)।

(ग) इमावेव गोतमभरद्वाजौ अयमेव गोतमः अयं भरद्वाजः, इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी, अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपौ, अयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते अत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति (बृह० उ० २।२।४)।

(घ) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः (श० ब्रा० ८।१।१।६)।

तु० वसिष्ठ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः (यजु० १३।५४)। मनो वै भरद्वाज ऋषिः (श० ब्रा० ८।१।१।९)।

तु०—भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः (यजु० १३।५५)। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः (श० ब्रा० ८।१।२।३)।

तु० जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः (यजु० १३।५६)। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः (श० ब्रा० ८।१।२।६)।

तु० विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः (यजु० १३।५७)। वाग्वै विश्वकर्मर्षिः (श० ब्रा० ८।१।२।९)।

तु० विश्वकर्म ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः (यजु० १३।५८)

ज्ञानविधूतपाप्मा वामदेव आदि ऋषियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से मन्त्रों के सुसूक्ष्म अर्थों, रहस्यों को जाना तथा उसे बता कर लोककल्याण किया उन्हीं के लिये घृणित मन्त्रार्थ कर यह कह दिया गया कि— "वामदेव ऋषि ने कुत्ते का मांस पका कर खाया[1] वामदेव की पत्नी बड़ी निन्दनीय थी एवं इन्द्र ने बुभुक्षित वामदेव को शहद खाने को दिया" इत्यादि, इन सब दूषितार्थों के निवारण का उपाय मात्र यौगिक प्रक्रिया ही है। जैसा किमहर्षि दयानन्द ने कृपा पूर्वक दर्शाया है।

प्रचलित[2] शुनःशेप आदि की कथाओं का सत्यार्थ इस यौगिकवाद द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। भला कोई व्यक्ति शुनःशेप[3] शुन.पुच्छ, शुनःलाङ्गूल जैसे गन्दे नाम अपनी सन्तान के रख सकता है। वास्तव में इस प्रसंग में ब्राह्मणोक्त आख्यान में आये अजीगर्त शब्द ऐसे व्यक्तियों के लिये आया है जो सदैव ईश्वराराधना से नितान्त दूर रहते हुए प्रकृति की ही उपासना में रत रहते हैं, ऐसे व्यक्तियों के पुत्र भी गन्दी प्रकृति के ही होंगे, इसी को दर्शाने के लिये शुनःशेप आदि नाम हैं।

शुन.शेप का अग्नि आदि देवताओं की प्रार्थना करना और बन्धन मुक्त होकर विश्वामित्र का पुत्र बनना यही है कि जब मनुष्य भौतिक उपासना को छोड़ सच्चा ईश्वरोपासक बन जाता है तब वह अजीगर्त्त का पुत्र एवं शुनःशेप न रहकर वैश्वामित्र — ईश्वर का पुत्र देवरात (देवों द्वारा प्रदत्त) बन जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध कथानकों को समझना चाहिये न कि इनके आधार पर वेद में इतिहास मानना चाहिये जैसा कि मीमांसा दर्शन के 'परन्तु श्रुति-सामान्यमात्रम्' सूत्र में कहा है[4]।

---

१. द्र० ऋ० सा० भा० ४।१८।१३॥

२. द्र० तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः, शुनः पुच्छः शुनः शेपः शुनोलाङ्गूल इति ऐ० ब्रा० ७ ३॥

३. ऋ० १।२४।१२॥

४. मी० द० १।१।३१।

प्रकृत कथानक में शुनःशेपादि व्यक्तिवाचक नाम हो ही नहीं सकते इसमें वेद के ५।२।७ पर 'शुनश्चिच्छेपम्'[1] कहना व्यक्तिवाचक नाम न होने पर स्वयं प्रमाण है। शुनः शेप के मध्य में चित् कैसे आ सकता था।

वस्तुतः ये अन्ध परम्परायें वेद के अंगों एवं उपाङ्गों की उपेक्षा करने से ही हुई हैं।

१०. वेदों की पवित्रता की रक्षा—वेदों में मद्य मांस भक्षण, गोवध, बहुपत्नीवाद, अश्लील कथायें, अत्यन्त गर्हित कदाचारों का दूषित आक्षेप भी वेद के शब्दों को न समझने के कारण ही हुआ है। सोम शब्द का अर्थ मद्य एवं 'आलभते" का अर्थ मारना अज्ञानी एवं पक्षपाती लोगों ने ही किया है।

यह सत्य है कि जब विशुद्ध ज्ञान के मार्ग में अन्धपरम्परायें, रूढिवादिता, आग्रहिलता आदि दोष अवरोधक बन जाते हैं तब वह स्वतन्त्र चिन्तन की धारा जो ऋषिपरम्पराओं से जुड़ी थी विच्छिन्न हो जाती है।

वैशेषिक दर्शन के 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'[2] के अनुसार वैदिक सत्य ज्ञान को बुद्धि पूर्वक ही समझने की चेष्टा करनी चाहिए अन्यथा वे हमें अनर्गल प्रलाप से लगेंगे। यौगिक प्रक्रिया ही एक धुरी है कि जिससे वेद के शब्दों का सही अर्थ एवं मन्त्रों के देवता=विषय को भली प्रकार जाना जा सकता है।

उपसंहार—प्रकृत निबन्ध में वेदार्थ में यौगिकवाद का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए १० हेतु सोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जो निम्न हैं—

१. वेद के प्रत्येक शब्द को यौगिक मान कर ही वेद के अर्थों की व्यापकता का बोध किया जा सकता है।

२. वेद के सूक्ष्म अर्थ की अभिव्यक्ति यौगिकार्थ द्वारा ही सम्भव है।

---

१. शेप के लिये देखें निरु० ३।२१॥

२. वै० द० ६।१।१॥

३. वेद की ऋषिसम्मत त्रिविध प्रक्रिया की सुरक्षा यौगिकार्थ द्वारा ही हो सकती है।

४. यौगिकार्थ द्वारा ही वेद के शब्दों का सही अर्थ जानकर लौकिक व्यवहार में अश्लील से लगने वाले शब्दों का समाधान एवं परिहार हो सकता है।

५. वेद के अचेतन में चेतनवत् व्यवहार का समाधान यौगिक प्रक्रिया ही है।

६. अप्रत्यक्ष एवं अतीन्द्रिय ज्ञान का आभास यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही हो सकता है।

७. एक ही मन्त्र में प्रयुक्त कई पर्यायवाची शब्दों का सही अर्थ, यौगिक प्रक्रिया के आधार पर ही विशेषण और प्रकरण के बल पर किया जा सकता है।

८. निरुक्त शास्त्र की सार्थकता यौगिक प्रक्रिया मानने पर ही है।

९ यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही वेद में मानवीय इतिहास के आरोप का खण्डन तथा तत्तत् शब्दों की ज्ञान-विज्ञान परक व्याख्या की जा सकती है।

१० सोम आदि शब्दों के यौगिक प्रक्रिया द्वारा ही सही अर्थ कर के वेदों की पवित्रता को सुरक्षित रखा जा सकता है।

इस प्रकार स्वाध्यायशीलों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे वेदार्थ की परख इसी दृष्टिकोण से करें एवं ज्ञानगरिमा को उपलब्ध करें।

———